(मौलिक उपन्यास)

Tapoo - Bhumi

जैनेंद्र कुमार
ऋषभ चरण

Jainainder Kumar

प्राप्ति स्थान
ज्ञा न प्र का श न
दिल्ली
Gian Prakashan Delhi
1955

१९५५

मूल्य :—पाँच रुपये

श्रीमती शांति देवी जैन, ध० प० श्री ऋषभ चरण जैन, ७/१६ दरयागंज दिल्ली, द्वारा प्रकाशित तथा रामाकृष्णा प्रेस, कटरा नील, दिल्ली में मुद्रित

अपनी बात

मेरा अपना इसमें कुछ नहीं है। जो कुछ है, भैय्या जैनेंद्र का। उनकी आज्ञा मान कर धरिणी की कहानी का कुछ भाग तथा सतीश की कहानी मैंने लिखी। सतीश की कमजोरियाँ मुझमें हैं। दयालु पाठक यदि अपनी सहानुभूति मुझे दे सकेंगे तो धन्य मानूंगा।

सन '३२' की जेल भैय्या जैनेंद्र को इतनी सुविधा भी न दे सकी की वे पुस्तक की भूमिका के दो शब्द लिख सकते। इसीलिए इसका उपसंहार तथा अपनी बात भी लिखने पर मैं विवश हुआ।

विनीत

ऋषभ चरण जैन

अभागिन धरिणी को

नवीन की कहानी

१

दिन ढल गया, शाम हो आई, अब वह भी ढली जा रही थी। प्रकाश कब उज्ज्वल-श्वेत से पीला, फिर अरुण, फिर लाल, और कब काला हो गया—मुझे नहीं मालूम। मैं माथा हाथों पर थामे बैठा था। भीतर-ही-भीतर एक कसक जी को खा रही थी।

पुराने दिनों की बातें शरद् के मेघ की तरह स्मृति में जहाँ-तहाँ उड़ रही थीं। उड़कर जरा देर में वह विलीन हो जातीं। उन दिनों के खेल, वह हँसी, वह प्यार! भविष्य के वे उज्जवल अरमान! सब आँखों के सामने स्वप्न का हलका परिधान पहनकर, इठलाते, खिलते, आकर, सजकर, शून्य में रम-जा रहे थे मैं उन्हें भरपूर देखता था—और रह जाता था। कभी वे मेरे लिए सार-सत्य थे, मेरी मुट्ठी में थे—आज मेरे लिए वे स्वप्न-व्यंग हैं! मैंने उन्हें क्यों जाने दिया?

लेकिन मैं पछता नहीं रहा था। सब-कुछ खोकर जो मैंने आत्मा का साधुवाद प्राप्त किया था, वह मेरे संतोष के लिये काफ़ी था। सोचता था—इस साधुवाद से शरीर और हृदय की धधकती अतृप्ति को शांत कर दूँगा। कर्तव्य के मार्ग पर मैंने अपनी हविस को स्वाहा हो जाने दिया है—उस कर्तव्य से मैं टलूँगा नहीं।

पर, रह-रहकर, उस निठुर कर्तव्य की चपेट से झुलसा हुआ एक मुख सामने आ दिखता था।

धरिणी कब आई—पता नहीं। जब कान में आवाज पड़ी—'रात हो आई, चलो भोजन करलो' तो मैं जगा हुआ-सा चौंक पड़ा; स्वप्न से टूटकर धरती पर आ गिरा। पर सँभलकर बोला—"धरी, आओ, बैठो तो।"

चूल्हा जल रहा था, चौके में उसकी जरूरत थी, पर धरिणी मेरे पास आ बैठी। इसके लिए मैं तैयार न था। मैंने कहा—"चलो, रोटी जलती होगी। खा-पीकर निबट लें।"

धरिणी ने एक उच्छ्वास ली। कहा—"चलो।"

मैंने उसकी ओर देखा। उसकी आँखों में का रस छलक आना चाहता था, पर जैसे किसी उलझन में उलझ-उलझ रहता था। उसकी झुकी पलकें उठीं। उसने मुझे देखा। वे पलकें उसकी जरा उठीं, पूरी नहीं खुल पाईं—और मैं मन में हठात् कह उठा—"अभागिन धरिणी!"

चौक में चुपचाप आसन पर जा बैठा। परोसते-परोसते वह बोली—"तुम सदा क्या सोचते रहा करते हो?"

मैंने उसे देखा—उसकी आँखों में स्नेह है, और उत्सुकता है, और चिंता भी है। मैंने कहा—"अकेले रह जाने पर कुछ-न-कुछ तो सोचना पड़ता ही है।"

"सो तो ठीक है, पर क्या सोचते हो?"

"सोचूँगा क्या, धरी?—अपना-तुम्हारा भविष्य!"

धरिणी ने सुना 'अपना-तुम्हारा!' पर वह खिली नहीं, उसका समाधान नहीं हुआ। पूछा—"नहीं, ठीक-ठीक बताओ।"

"और क्या कहूँ, धरी, ठीक ही तो बता रहा हूँ।"

"तो शशि के बारे में नहीं सोचते?"

सहसा मेरे घाव पर आघात पड़ा। इस घाव को मैं अपनी व्यथा के भीतर दुबकाकर सुला रहा था। मैंने कहा—"शशि!—उसका जिक्र क्यों छेड़ती हो? उसे उघाड़कर विवस्त्र मत करो, खोल मत दो, लिपटा हुआ सोता रहने दो।"

वह गम्भीर हो गई, और चुप-चुप खाना परोसती रही। फिर बात नहीं हुई। अब-तक मुझे देख भर लेने के अलावा बोलने का साहस उसे नहीं हुआ।

भोजन कर, मैं छत पर आया। गर्मियों की रात थी, चाँदनी छिटक रही थी। बिछे बिस्तर पर मैं लेट न सका। सिर हाथ पर लिए मैं उस पर जा बैठा। शशि की याद, जो मुझे कभी छोड़ती न थी, अब धरिणी के स्पर्श से मचल गई थी। मैं उसमें वह चला।

जब मेरा ध्यान टूटा, मैंने देखा—धरिणी मेरे पीछे बिछौने पर पड़ी हुई मेरी तरफ आँख गाड़े हुए है। मुझे विस्मय का भी समय न देकर उसने कहा—"तुम्हें उसके पास जाना होगा।"

मैंने पूछा "किसके ?"

तत्क्षण उसने जवाब दिया—"शशि के।"

टालते हुए मैंने कहा—"चोर की तरह से आकर, न जाने कब से मेरा चेहरा ताड़ते रहने के बाद, बस, तुम्हें यही कहने को मिला है ?"

उसने दृढ़ता से कहा—"शशि के पास तुम्हें जाना होगा।"

मैंने कहा—"क्या बकती हो !"

यह सुनकर उसे प्रसन्नता हुई या दुःख, उसके चेहरे से मैं न जान सका। उसने कहा—"तो क्या तुम उसके पास बिल्कुल नहीं जाना चाहते ?"

जैसे मेरे घाव में किसी ने उङ्गली चुभा दी हो। दर्द ऐसा हुआ कि 'आह !' तक न भर सका। उसने पूछा—"तो क्या बात है ?" मेरी इस निस्पंद अवस्था ने उसे चौंका दिया। वह चुप हो-बैठी। कुछ मिनटों के बाद मेरा हाथ, जो माथे का बोझ सँभाल रहा था, खींचकर अपने हाथ में लेकर उसने बड़ी उनहार के साथ कहा—"तो क्या बात है ?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं।"

उसने कहा—"नहीं ठीक बताओ; फिर ऐसे क्यों हो रहे हो ?"

मैंने यही कहा कि 'कुछ नहीं'। और मैं कहना चाह कर भी कुछ कैसे कह सकता था ? बात कहने को थी ही क्या ? और जो थी, वह क्या कहने में आ सकती थी ?

उसने कहा—"नहीं, तुम्हें बताना तो होगा।"

"बताना-ही होगा ?"

"हाँ।"

मुझे मुस्कुराहट आ गई।

धरिणी कुछ समझी नहीं।

"नहीं समझी ? मैं कहता हूँ, मैं क्यों जाऊँ ?" वह विस्मित दृष्टि लिए आँखों में कुछ और भी भर कर मेरी ओर ताकती रही।

अब फिर मन मुझे धोखा गया। बोला—"जाने को जी होता है; इसलिए नहीं जाता। उसकी याद मुझे बनी रहती है। उसके बिना लगता है, जैसे मेरा जीवन रूखा है। मुझे उसे पाना ही चाहिये। पर नहीं, उसे पाना अपनी मनोकामना पूरी करना है। और यह मेरा रास्ता नहीं, यह मेरे भाग्य में नहीं। अपनी सब कामनाओं को मैं उत्सर्ग कर चुका हूं, तुम पर—कर्तव्य पर।"

उसकी आँखों में आनन्द नाच आया। पर वह अपने से खीज उठी। उसने कहा—"क्या शशि के प्रति तुम्हारा कुछ कर्तव्य नहीं है ?"

मैंने कहा—"है। पर समाज का जो तुम्हारे प्रति कर्तव्य है, और जिसे, उसने तुम पर अत्याचार ढाकर, अनिवार्य प्रायश्चित्त बना दिया है, मैं उस प्रायश्चित के उत्तरदायित्व को लेकर खड़ा हुआ हूँ। तुम्हारे पैरों में अपनी सब कामनाओं को चढ़ाकर ही वह उत्तरदायित्व पूर्ण होगा, मैं यह जानता हूँ। अब तुम कुछ न कहना।"

धरिणी ने कहा—"अगर ऐसा है, तो हम दोनों, कर्तव्य के नाम पर उस बिचारी सरला शशि को कुचल डालने का षड्यंत्र कर रहे हैं। नहीं, तुम्हें उसके पास जाना ही होगा।"

मैंने कहा—"तुम विधवा हो, असहाया हो, परित्यक्ता हो, समाज से बहिष्कृत हो। मैं तुम्हें कैसे छोड़ूँगा ? वह सुन्दरी है, विवाहिता है, परिचिता है—समाज उसकी चिन्ता कर लेगा।"

धरिणी ने धीरज से कहा—"मैं विधवा हूँ, दूषिता हूँ, परित्यक्ता

हूँ, समाज की विलास लोलुपता में मेरे लिये बहुत आश्रय है। अबोध शशि को समाज की निरीहता पर छोड़ने की निठुरता न करना। उसके एक-मात्र आश्रय तुम हो।"

मैंने दृढ़ता-से कहा—"मैं व्यक्तिगत कर्तव्य को जानता हूँ। वह मेरे हृदय की लालसाओं से सना हुआ है। मैं उससे डरता हूँ—क्योंकि वहाँ मुझे अपने हृदय की भूख की तृप्ति दीखती है। समाज के जिस गुरु-प्रायश्चित को मैं सम्पन्न करने की चेष्टा कर रहा हूँ—वह इन लालसाओं से अछूता है। मैं उसका आह्वान करता हूँ—क्योंकि वह मेरी इस भूख को और धधकाता है, शान्त नहीं करता।"

धरिणी ने कहा—"ज़्यादे आदर्श बनने की कोशिश न करो। यह भयावह है। इससे तुम अपना दिल भी खो बैठोगे। अपने जी से पूछो, वह क्या कहता है। क्या तुम दुखिया शशि के दुख के अनुपात का बोझा सदा सहते रहने को तैयार हो? क्यों वृथा उस बिचारी को मारते हो? जाओ। इस आदर्श से गिरने के लिये कोई तुम्हें टोकेगा नहीं। शशि तुम्हें इस पर बधाई देगी, और मैं—मैं भी उस बधाई में योग दूँगी।···तुम मेरे साथ रह सकोगे?···नहीं। तुम्हें जाना-ही होगा।"

इन आवेश के शब्दों को सुनकर मैं चमक उठा। धरिणी को देखा—उसके चेहरे से विलक्षण स्निग्धता फूट रही थी। रोज़ हम इसी तरह एक पलँग पर बैठ कर घण्टों बातों में बिताया करता करते थे, पर आज स्नेहाकांक्षा से अभिसिक्त धरिणी के रक्ताभ मुख-मण्डल को देख कर मुझे ऐसा लगा—जैसे कुछ यह असंगत-सा हो। मैं २४ वर्ष का युवक, अविवाहित। यह १८ वर्ष की विधवा। पर मैं उठा नहीं। जो अनौचित्य की छाया का विचार-सा उठा था, मैंने उसे अपनी कमजोरी समझा, और तिरस्कार के साथ अपने हृदय से दूर फेंक दिया। प्यार की चाह कितनी निसर्ग-सुन्दर, निसर्ग-शुद्ध वस्तु है!—किन्तु इसी को हमने कितनी लांछित वस्तु बना दिया है!

मैंने कहा—"मैं नहीं जाता। इसका प्रधान कारण यह है, कि दिल कहता है—'जाओ-ही।' बिना जाए वह चैन नहीं लेने देता। मैं उसका विश्वास नहीं करता। एक शिक्षा—जो मैंने अपने से सीखी है, और जिसे मैं संसार को सिखाना चाहता हूँ,—वह यही है...हाँ, मैं क्यों नहीं तुम्हारे साथ रह सकता?"

धरिणी हठात् खिल उठी। उसने कहा—"दुनिया....!"

मैं बीच-ही में बोल उठा—"ओह दुनिया! मैं उसकी सभ्यता पर उसकी अहंमन्यता पर थूकता हूं। उसकी मुझे परवाह नहीं। वह मुझे भ्रष्ट कहेगी, मैं समझूँगा—मैं ठीक मार्ग पर हूँ। जब मैं उसकी अच्छी सम्मति पाने की इच्छा करूँगा, मैं समझूँगा—मैं फिसल चला। दुनिया जब भला कहे, समझ लो, तुम्हें अपने भीतर अपने-आपको जाँचने की आवश्यकता हुई है। मूर्खता-से (जिसे वह बुद्धिमानी कहती है) फूल कर जब वह अपनी आवाज़ निकालती है, शायद उसे आशा रहती हो, कि सब भक्ति से कान पकड़ कर उसके सामने आ झुकेंगे। पर मैं बेवकूफ़ नहीं। मैं जानता हूँ, समझता हूँ। मैं ठीक और गलत के निर्णय के लिए उसके आगे हाथ-बाँधे हाजिरी बजाते रहने की जरूरत नहीं समझता। मैं तुम्हारे साथ रहने के औचित्य और आवश्यकता का फैसला दुनिया के मुँह से नहीं माँगता। मैं अपनी पर्वाह कर सकता हूँ, और तुम्हारी,—जिसे दुनिया का शिष्ट व्यवधान मौत की सजा दे चुका है—पर्वाह करने का व्रत ले चुका हूँ।...."

धरिणी ने यहाँ सन्तोष की साँस ली।

"....लेकिन, तुम अनुरोध करती हो, मुझे शशि की चिन्ता करनी ही होगी। अच्छा, मैं सोचूँगा। मैं अपने से सलाह लूँगा। अपने मित्रों से भी सारी कहानी सुना कर सलाह लूँगा। बहुत सम्भव है, तुम्हारा अनुरोध मानना ही पड़े।"

इस सम्भावना की बात सुनकर धरिणी प्रसन्न न हुई। मैंने उसे विश्राम लेने देना उचित समझा, और मैं दूसरे पलंग पर जा लेट

रहा ।............

हम दोनों एक घर में रहते हैं, और यह हमारा 'आज' है । आत्मीय आत्मीय मैं किसे कहूँ ? आत्मीय कहने का अधिकार मुझसे छिन चुका है । बस, अब मेरी आत्मीया धरिणी है, किन्तु इस आत्मीयता से अपने जीवन में पूर्णता लाभ करने की आशा मुझे नहीं है । काँच के समान पारदर्शी धरिणि मेरे सामने कितनी प्रत्यक्ष है; कितनी प्रकट है, मेरे लिए कितनी सुबोध्य है, मेरे निकट है, मेरे लिये कितनी प्रार्थनीय और विचारणीय है ! किन्तु, क्या वह मेरी अपनी है ? क्या मैं उसमें अपने को खो दे सका हूँ—या खो दे सकता हूं ? नहीं । क्यों नहीं,— कथा का अवतरण हुआ है, तो इसका इतिहास भी पाठकों को बताना ही होगा !

२

●●●

धरिणी को मैंने वचन दिया है । उसके अनुरोध पर मुझे विचार करना होगा । पर मैं खुद कुछ नहीं सोच सकता । सोचने की सोचता हूँ, कि जी मचल खड़ा होता है । सलाह मैं किस मित्र से लूं । मेरा कोई मित्र नहीं । सब मुझसे डरते हैं—बचते हैं । वे मुझे डराना चाहते हैं । मैं नहीं डरता, मानो मैं कोई अक्षम्य घोर कुकर्म करता हूँ । सामने बोलने का साहस नहीं करते—पीछे-पीछे हँसते हैं । भीरु,, कायर—वे सब ! एक-एक उनमें से आकर मेरे आगे मेरा समर्थन करता है, और समाज में जाते ही नाक को धो-पोंछ, ऊँचा चढ़ाकर मुझ पर कृपा बख़्शने का दम भरता है । शायद समाज उसके ढोंग, उसकी वीरता

का किला है। मैं उन सब की उपेक्षा करता हूं—स्वार्थी खुशामदी, हृदय-हीन, सम्मान हीन, साहस-हीन, भ्रष्ट हूँ। मैं उनसे सलाह नहीं माँग सकता। तो क्या, आप मुझे मेरी कहानी सुन कर कुछ सलाह दोगे ?

समाज मुझसे भागता है, इससे मुझे भी उससे भागना पड़ता है। किसी शिष्ट व्यभिचारी से मेरा जिक्र छेड़ो—उसके कान खड़े हो जायँगे—भौंह आप-से-आप सिकुड़ जायेंगी। समाज ने जो उसके लम्पटता के क्षेत्र को अपनी छत्रच्छाया में फैलने दिया है, इसके उपहार में वह मुझसे नाक सिकोड़ना, समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य समझता है। मैं जानता हूँ, वह चाहता है—मेरे जैसा साहस उसमें भी होता। पर साहस नहीं है; तो वह अपने को साहसहीन मानने के बजाय मुझ पर लांछनाओं का ढेर का ढेर पटककर ज्यादे सन्तोष पाता है। समाज ने मुझे भ्रष्टाचारी दाग रक्खा है। इसमें उसे ज्यादे सुख मिलता है। अतः सहृदय पाठक, यदि मेरी इस कहानी से तुम्हारे हृदयों में विद्रोह की चेतना जाग उठे, तो मुझे क्षमा करना।

मेरा नाम नवीन है। सन् '०४ में मेरा जन्म हुआ। बचपन की कथाओं से मैं आपको नहीं थकाऊँगा। औसत शिशु को साधारणतः जो प्यार-लाड़ भुगतना होता है, वह मुझे भी मिला। हँसी-उल्लास खेल-कूद, चोट-चपेट, सच-झूठ—इन्हें मैंने उसी खुले दिल से अपनाया, जो बालक की प्रकृति में देन है। किशोरावस्था की उत्सुकता, लज्जाशील चपलता, घमंड और उच्चाकांक्षाएँ, दुनिया के रसीले फंदों में चोर-मार्ग से घुसकर साफ निकल जाने की लालसा—इस सब में उसी वेग-पूर्ण उमंग से फँसकर खेला, जिसे मैं अपने स्वभाव में प्रकृति की अमूल्य देन समझता हूँ। मेरा वेग-पूर्ण स्वभाव मुझे प्यारा है। अब मैं युवा हूँ, और उसके दोषों को अनुभव करने पर भी, मैं उसमें मुग्ध हूँ।

छुटपन में ही मैंने अपने पिता को खो दिया। मुझे उनकी बिल्कुल याद नहीं। कहते हैं, मैं चार महीने का था, जब उन्होंने यह संसार छोड़ा। मेरी प्यारी माता के सिवा मेरा कोई और अभिभावक न था। उसने

मुझे पोसा; पाला, बड़ा किया, शिक्षा दी, मुझ में मर्दानगी और हौंस भरी, और मेरी प्रकृति को यह वेग दिया। उसके दूध में यह सब घुला हुआ था। उसके प्यार में संयम था, और उसकी ताड़ना में प्यार। हृदय में उसके दूध की स्निग्धता और मिठास भर कर, और शरीर में उस दूध से जीवन-शक्ति और प्रबलता भरकर मैं बड़ा हुआ। उसके प्यार की सख्ती को मैंने सेंत रक्खा, और उसे प्रकृति में मिल जाने दिया, और उस प्यार के मधु से मैंने अपने हृदय को रंग डाला।

कालेज के जीवन की सामग्री को मैंने स्मृति के सुरक्षित कोने में रख छोड़ा है। वह बड़ी विचित्र और सुख-प्रद है। जबतब एकान्त जगह में, उसे उलट-पलटकर मैं उसकी बहार झाँक लिया करता हूँ। पर उसे मैं यहाँ लिखूँगा नहीं। जो कहानी मैं लिखने जा रहा हूँ, उससे इसका मेल नहीं खायेगा। इतना कह देना काफी है; कि मैंने अपने विद्यार्थी-जीवन में कालीदास, शेक्सपियर, मिल्टन के सिर पर चढ़ कर निर्बाध उत्सुकता के साथ जीवन-रस के स्रोत में वह सब अठखेलियाँ खेलीं, जो बस, कालेज के लड़कों के लिए ही साध्य हैं।

सन् '२४ में मैंने बी० ए० किया। और अगले साल डिपुटी-कलक्टरी के इम्तिहान में तीसरे नम्बर पर आया। अब मैं अपनी ट्रेनिंग ख़तम कर, यहाँ डिपुटी-कलक्टरी करता हूँ।

आरम्भ से, पैसे से हम बहाल थे। न बखरे की गुंजाइश थी, और न खाने के लाले थे। इतना था; कि हम सन्तोष से सुखी जीवन बिता सकते थे। मैं कुछ न-भी करता, तो भी कुछ हर्ज़ न था। पर, अब मैं डिपुटी-कलक्टर हूँ, और मनमाना पाता हूँ।

डिपुटी-कलक्टरी की परीक्षा से लौटने पर मैंने देखा—मेरे विवाह का बड़े समारोह के साथ आयोजन किया जा रहा था।

३

मेरा विवाह शशि से होने को था। शशि को मैं जानता था। छुटपन में हमने न-जाने आपस में क्या-क्या कौतुक किये थे। हम बिल्कुल घुल-मिल गये थे। पर इधर जब से वह वयस्का हुई, और मैं मनुष्य हुआ —हमारा मिलना नहीं हुआ। मैं उसे देख पाने को भूखा रहता था, और पुरानी स्मृतियों से रस चूसा करता था। बड़े उछाह-भरे दिल से मैं व्याह की तिथि को एक-एक मिनट पास आते देख रहा था।

वे, जिन्हें मैंने कभी न देखा था, तीन-पुरखों से हमसे अपना सम्बन्ध खोज-निकालकर उसे अपनी ज़बान पर गाते हुए मेरी माता के आतिथ्य के अधिकारी हुए। मुझे उन्होंने बधाइयाँ दी, और अपने रिश्तों की कथाओं को सजा-सजाकर मेरी कृतज्ञता के आगे बिछाने लगे। बिना-पूछे उन्होंने माता का सब रुपया अपने हाथों में, और विवाह के सब बखेड़ों का भार अपने कन्धों पर ले लेने की तत्परता दिखलाई। मिठाई बनवाने, गहना गढ़वाने, तियल तैयार कराने, रुपयों का वितरण करने और बिरादरी में अपनी जिम्मेदारी की धाक जमाने के लिए उन्होंने मनोयोग के साथ दौड़-धूप शुरू करदी। व्यस्तता निठल्लेपन में व्यस्त हो गई।

शशि के साथ अभिन्न जीवन होने की कल्पना मुझे चुटकियाँ ले रही थी। मैं उसके नशे में इस तमाशे के थोथेपन में भी एक मजा ले रहा था। मित्रों की चहल-पहल में और मजाक में बहुत देर के बाद मुझे सतीश की अनुपस्थिति अखरी। इन कई दिनों से उसे न देखा था।

धरिणी के भाई का नाम सतीश था। वह एफ़० ए० में मेरे-ही

साथ पढ़ता था। पर वह एफ़० ए० को पार न कर पाया। शौक़ ने उसे ले डाला। वह तीन साल एफ़० ए० में फेल हुआ और अन्त में हताश हो, कॉलेज छोड़ बैठा। वह मुझ से कुछ-एक महीने बड़ा था। सुन्दर, सभ्य, हँसमुख, शौक़ीन, उदार, बदमिजाज, तीक्ष्ण, भीरु वह यह सब कुछ था। एक केन्द्र था—जहाँ ये सब विषमताएँ आ मिली थीं। यह नहीं, कि वहाँ इनका वैषम्य मिट जाता था। नहीं, इन भावों में द्वन्द्व तो चलता ही रहता था, पर मानो इन सब ने अपने विरोध को स्वीकार कर, अपने लड़ते रहने के लिए उपयुक्त अखाड़ा ढूँढ़कर, वहाँ मिल-बैठने का निश्चय कर लिया था। वह सुस्वभाव लड़का था, पर यदि उपादेय संगति न मिले, और परिस्थितियों का आकर्षण तीव्र हो, तो उसके उत्कट दुष्ट हो उठने के लिए उसके स्वभाव में काफ़ी सामग्री थी। वह मेरी धाक मानता था। मैं उसे बड़े प्यार से देखता था। पर धाक भयानक चीज़ है। उसमें जो विवशता का अंश है—वह बड़ा विस्फोटक है। मौका मिलने की देर है, कि वह भड़क-उठ सकता है, और फिर धाक ऊपर से धाक रहती है, भीतर से वह घनी दुश्मनी हो जाती है।

मैं तुरंत सतीश के घर को चल पड़ा। सतीश के घर से मैं बहुत हिला हुआ था। 'सतीश!' 'सतीश!' कहता हुआ सीधा घर के अंदर जा पहुँचा।

घर को मानो लकवा मार गया था। सब सुन्न था। बैठक में गया। उस वक्त मुझे बैठक में पाकर सब अचकचा गए। मानो मैं कोई भारी गुप्त षडयन्त्र की अभिसंधि के बीच में कूद पड़ा हूँ। बैठक में सतीश के पिता और सतीश बैठे थे। मुँह सूख रहे थे। किसी भारी समस्या में अक्ल को बहुतेरा व्यर्थ घुमाने-फिराने के लक्षण उनके चेहरों पर उड़ रहे थे।

सतीश के पिता कोई पचास वर्ष के सम्मान्य बुज़ुर्ग थे। धनिकता और सुरुचि उनकी आकृति और परिधान में प्रत्यक्ष थे। जवानी में वह

मौजी स्वभाव में रहे होंगे—यह उनकी काली चंचल आँखों से पता लगता था। उनके सिर के बाल गिनती के थे, और सफेद थे। मूँछ भरी हुई थी। दाढ़ी साफ थी। व्यवहार-कुशल, गरीबों के प्रभु, रईसों के दोस्त, और अफसरों के गुलाम! बहुत से बड़े आदमियों की आदतों के आदर्श का अनुसरण करते-करते वह बहुत-कुछ अपनी प्रकृति का दबंग-पन मिटा डाल चुके थे। इज्जत का पाई-पाई ख्याल रक्खे थे और पैसों का कौड़ी-कौड़ी लेखा रखते थे,-दूसरे की इज्जत और दूसरे के पैसे का उतना नहीं रख पाते थे। कुछ सभाओं के सभापति और उदारता के लिए प्रसिद्ध दानी थे। संक्षेप में वह शिष्ट, सम्भ्रान्त, सभ्य, समाज-सेवी, धन वाले पुरुष थे।

मुझे देखकर दोनों ने अर्थ-पूर्ण दृष्टि से एक-दूसरे को देखा। कुछ देर में पिता बोले—"कहो नवीन!"

मैंने कहा—"इधर सतीश को कई दिनों से नहीं पाया। इससे उसे देखने चला आया। पर यह बात क्या है?"

पिता कुछ देर सोचकर बोले—"न मैं और न सतीश ही तुम्हारे ब्याह की खुशी में शामिल हो सका। हमारा दुर्भाग्य है! पर जो बात एक दिन खुलनी ही है उसे छिपाने से क्या फायदा? और फिर तुमतो घर के हो। नवीन, हम बड़ी आफत में फँसे हैं।"

मैंने मूक-दृष्टि से उनकी ओर देखा।

उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—"ओह, तुम न समझ सकोगे। धरिणी? कितनी भली, भोली, सीधी लड़की हम उसे समझते थे। क्या हमें कभी गुमान भी हो सकता था? पर यह कलिकाल है। जो न हो, सो थोड़ा है। देखो, सुन्दरलाल की यह चिट्ठी आई है। ओह!"

मैंने चिट्ठी देखी, उसमें गिनती के शब्द थे। वह यह थे—

"श्रीमान्, आपने अपनी लड़की को कितना पढ़ाया-लिखाया! हम सब उसे कितना सुशील समझते थे! पर क्या इसी दिन के लिए? ....कुछ दिनों से मैं बड़े सोच में पड़ा हूँ। बहू को ऐसा साहस भला

कैसे हुआ ?......स्पष्ट है, मैं उसे अपने यहाँ नहीं रख सकता। आपने उस पर जितनी शिक्षा खर्च की है, उसे ख्याल रखकर मैं उसे आपके यहाँ भेजना उचित समझता हूँ। आप जो ठीक समझें, करें। ....मैं किसी तरह की भी सेवा या सलाह के लिए सदा प्रस्तुत हूँ।

आपका, सुन्दरलाल।"

मैं दो-तीन दफे इसे पढ़ गया। पूछा—"धरिणी कहाँ है ?"

"यहीं।"

"यहीं ?"

"हाँ।"

मैंने कहा—"तो आपने क्या सोचा है ?"

उत्तर मिला—"सोचेंगे क्या भाई ! हमारी अक्ल तो तो कुछ काम नहीं करती। सुन्दरलाल को हमने बुला भेजा है। सोचा था—धरिणी को कुछ दिनों बाहर भेज दिया जाय, और मामला रफे दफे हो जाय। पर धरिणी जिद पकड़ बैठी है। कम्बख्त, बेहया लड़की ! खुद तो डूब बैठी ही है, हमें भी डुबोना चाहती है। बहुतेरा समझाया—पर वह टस से मस नहीं होती।"

मेरी सारी मनुष्यता जाग उठी। मैंने कहा—"तो आप चाहते हैं कि वह बखेड़ा काट आये और आपको धर्म की नींद सोने को मिले ! क्यों, यही न ?"

सतीश कुछ कहने-ही को था कि सुन्दरलाल आ गये। वे कोई ३५ वर्ष के व्यवहार-दक्ष पुरुष थे। सुन्दर, स्वस्थ, गम्भीर, खिले हुए। मितभाषी, कमाल के सहिष्णु। सधी हुई बात के मुँह से निकालने वाले, पुरानी परपाटियों के शिक्षित पक्षपाती। बात करते, उठते-बैठते, हँसते और अभिवादन करते, सदा अपना ख्याल रखते थे। सुन्दरलाल ने भरकम-पने के साथ कुर्सी खींचकर उस पर बैठते हुए कहा—"आपने मुझे याद किया है। मैं सीधा चला ही आ रहा हूँ।"

पिता ने सिलसिला शुरू करते हुए कहा—"हम उसी मामले पर

विचार कर रहे थे। कुछ समझ नहीं पड़ता, क्या किया जाय। आपने यह खबर इतनी देर-से क्यों दी ?"

सुन्दरलाल ने कहा—"आप जानते हैं, आपकी लड़की के बारे में संदेह करने की जरूरत आ पड़ेगी—हमें यह कभी न सूझा था। सन्देह को मन में जगह देने के लिये भी कितनी होशियारी की जरूरत पड़ती है। और संदिग्ध संदेह की खबर आपको देकर आपका चित्त दुखाने की हमें हिम्मत न होती थी। आप निश्चय रखिए, सब मार्ग छान डालने के बाद मैंने आपको सूचना दी। अब आपने क्या तै किया है ?"

पिता—"यही तो मुश्किल है। मैं कुछ तै नहीं कर पाता।"

मैं—"आप क्या सोचते हैं सुन्दरलालजी ?"

सुन्दरलाल—"जरुर उसे कुछ दिनों बाहर भेजकर मामला साफ करा देना चाहिए।"

पिता—"पर वह इसके लिए तैयार नहीं।"

सुन्दरलाल—"यह तो ठीक है। पर कुल को दाग लगवा लेना भी तो ठीक नहीं होगा।"

मैं—"दाग मालूम होने से लगता है ?"

सतीश—"धरिणी पर कोई जबर्दस्ती भी तो नहीं की जा सकती।"

सुन्दरलाल—"वह जिद करती है ? जिद में क्या सार है ? हो भी, तो क्या उस जिद से हम अपनी इज्जत में बट्टा लगावेंगे ?"

मैं—"इज्जत में बट्टा ? अगर ऐसा ही है, तो एक और सिर पर पाप लादने से वह धुल न जायगा !"

सुन्द०—"आप दुनियाँ को नहीं जानते ?"

मैं—"मैं जानता हूँ। जानता हूँ, वह धोखे-धड़ी पर खड़ी है, पर आप उसमें मदद देना नहीं चाहते ?"

सुन्दर०—"हमारे मदद न देने से उसका कुछ बने-बिगड़ेगा नहीं। हमारी सच्चाई का सब बोझा हमीं पर पड़ेगा। जरूर मैं दुनिया से

अलग होकर हिच रहना नहीं चाहता। पिताजी, आप उस लड़की की जिद से सहम तो नहीं गये ?"

पि०—"मैं क्या कर सकता हूँ, सुन्दर ? उसकी मर्जी के खिलाफ़। कैसे कुछ किया जा सकता है ?—समझ नहीं पड़ता।"

सतीश—"मैं आपसे कहता हूँ सुन्दरलालजी, धरिणी की मर्जी के खिलाफ कुछ न किया जा सकेगा।"

सुन्दर०—"मर्जी के खिलाफ क्यों नहीं किया जा सकता ? मर्जी के मुताबिक वह कर चुकी, अब उसके खिलाफ-ही करना होगा। वह बेशर्म लड़की अब धर्म का ढोंग भरती है। धर्म-कर्म कुछ नहीं, वह साथ में हमें डुबोकर अपनी शर्म हल्की किया चाहती है। हम अपनी इज्जत को नहीं ले-डूबना चाहें तो ?"

मेरे मन में 'इज्जत' से बड़ी चिढ़ उठ रही थी। मैंने आवेश में कहा—"आप अपनी इज्जत को धुला-साफ रखना चाहते हैं, तो फिर उस लड़की बिचारी की इज्जत से इतते नाराज क्यों हैं ? मातृत्व, जो प्रकृति का सब से प्रतिष्ठित पुण्य-अधिकार है, उसे नृशंसता के उपदेश देकर आप अपनी मनुष्यता पर गर्व करना चाहते हैं ? आप, क्या आप सुन्दरलालजी, मातृत्व को शर्म से दागकर उससे मुँह फेर लेने का साहस करते हैं ? जब-कि शायद आप उस पामर को, जो अपने कृत्य के परिणाम से डर कर अब इस निरीह बाला की मौत मना रहा होगा, पूरे आतिथ्य के साथ अभिवादन करते हों।"

खरी बात सुनने की लोगों को आदत नहीं। सब यह सुनकर स्तम्भित रह गये। सुन्दरलाल बुरी तरह सकपका गए।

पिता ने कहा—"यह क्या नवीन !" मेरे जोश को रुकावट मिली और वह बल खा गया। मैंने कहा—"हम स्वार्थ के कीड़े, पाप पर पाप ढाकर हृदय की पवित्रता की आवाज को दाब देना चाहते हैं। यह हमारी भूल है। विवाह का यह धर्म हमारे लिए विभीषिका हो उठा है। ब्याह के दामन में जो चाहे कुकर्म किये जायँ, सब क्षम्य। पर

प्राकृतिक प्रेरणा की तनिक-सी दुर्दम्य स्वीकृति बर्दाश्त नहीं। उसे हम पाप से धोना चाहें। उस बिचारी बाला के बारे में जबकि वह ईश्वर रूप जीव धारण किये हुए है, यह सोचें कि वह मर क्यों नहीं गई ? और उस व्यभिचारी कुत्ते को, हत्या और झूठ के टीके से पवित्र होकर, समाज में स्वच्छन्द विचरने दें ! धर्म का कैसा भयानक उपहास है—हमारा यह सामाजिक जीवन ! पुरुष के दोष के लिए उस बिचारी कन्या को सजा सुनाओ ? पुरुष के दोष की सजा तुम अपने-आपको सुनाओ। तुम उसके भागी हो—तुम दोषी हो। धरिणी के साहस ने मेरी आँखें खोल दी हैं। उसका वह साहस अभिनन्दनीय है। वह कहाँ है ? मैं उसे सान्त्वना दूँगा। कहूँगा—अपराध पुरुष जाति का है—मेरा है। हमें तेरी शर्म नहीं—क्षमा चाहिए।"

सुन्दरलाल का रंग आया और गया। आखिरी वाक्य पर उन्होंने कहा—"तो साफ कहते हो कि क़ुसूर तुम्हारा है ?"

मैंने चमककर कहा—"हाँ, मैं कभी नहीं मानता, धरिणी अपराधी है। अपराधी पुरुष है। उस अपराध का उतना ही उत्तरदायित्व तुम पर है जितना मुझ पर।"

मैं इतना कहकर जाने को तैयार हुआ। पिताने पूछा—"नवीन कहाँ जाते हो ?"

मैंने का—"धरिणी को मालूम होना चाहिए कि उन हृदय-हीनों के बीच में, जो उसके दुख में सुखी होने की लालसा रखते हैं, एक सहृदय भी है, जो उसके दुख को बँटाना चाहता है। मैं धरिणी के पास जाता हूँ।"

पिता ने कहा—"नहीं, वहाँ तुम नहीं जाओगे। तुम्हारा जाना व्यर्थ है। वह कभी नहीं मानेगी कि तुम्हारी सहानुभूति सच्ची सहानुभूति है।"

सुन्दरलाल—"नवीन, क्यों खामख्वाह जलील होना चाहते हो ?"

सतीश—"नहीं, वहाँ तुम कैसे जाओगे ?"

मैंने कहा—"ठीक है, मेरा न जाना ही ठीक है। सतीश, जाओ, धरिणी को यहाँ ले आओ। आप खुद देखते हैं—संकोच से यहाँ काम न चलेगा।"

सुन्दरलाल ने कहा—"धरिणी को यहाँ बुलाने की जरूरत नहीं है।"

मैंने सुना अनसुना करके कहा—"सतीश, जाते क्यों नहीं ? जाओ, धरिणी को यहाँ ले आओ।"

पिता चुप बैठे सामने की दीवार पर किसी अदृश्य बिंदु को निर्निमेष देखते रह गए, और सुन्दरलाल पीठ झुकाकर मूँठदार छड़ी पर ठोढ़ी टेककर, नीचे फर्श पर किसी ज्यामिति की शक्ल का मन-ही-मन हल सोचने लगे।

४

सतीश लौटा। धरिणी; साड़ी का तनिक सिरा माथे के आगे सरकाए, धरती को देखती हुई, स्थिर डग रखती हुई, उसके पीछे-पीछे आई, और एक कोने में आकर खड़ी हो गई।

सब के मुँह मानो सी गये हों। सुन्दरलाल की जीभ को तो मानों काठ मार गया हो। साहस कर मैं आगे बढ़ा, और बोला—"धरिणी, तुम्हारी तलबी क्यों हुई, तुम जानती हो ? तुम्हारे भाग्य का फैसला सुनाने के लिये हम यहाँ न्यायासन पर विराजमान हैं। न्याय कठिन होता है। तुम हमसे मुलायमियत की आशा तो नहीं करतीं न ?"

उसने कहा—"नहीं।"

मैं इसके लिये कम तैयार था। खिसिया-सा गया। सँभलकर बोला—"हाँ, न्याय कठिन है। उसमें तुम्हारी कमजोरी और हमारी मनुष्यता का ख्याल नहीं रक्खा जायगा। हमारी कमजोरियाँ हैं; पर हम न्यायाधीश हैं। हमें उनको भूल जाना होगा। हम अपने सम्बन्धी का ख्याल नहीं रक्खेंगे। हम क्षमा का, हृदय का, आत्मा का––किस का ख्याल नहीं रक्खेंगे। तुम्हारे आँसुओं से हम विचलित नहीं होंगे, अपने उठते हुए आँसुओं को हम पी जायेंगे। करुणा उठेगी, हम कुचल डालेंगे। हमें समाज की सत्ता कायम रखनी है। वह जो उसका विधान है, करतूत है, उसकी रक्षा हमें करनी होगी। हम आत्मा देंगे, धर्म देंगे, मनुष्यता देंगे, सब कुछ देंगे; पर उसकी रक्षा करेंगे। कोई यह न कह पायेगा, हम अपने धर्म और आत्मा को पहिचानकर अपने को भूल गये, और समाज, जिसने हमें यह न्यायासन सौंप रक्खा है, से विच्छिन्न हो गये। धरिणी, तो तुम फैसला सुनने को तैयार हो?"

धरिणी—"हूँ।"

मैंने गला बनाकर कहा—"फैसला तुम्हें मान्य होगा?"

धरिणी—"नहीं।"

मैं—"नहीं?"

धरिणी—"नहीं, एक चीज है, जो समाज के नियमों से भी बड़ी है, न्याय से भी कठिन है, आपके फैसले से भी दुर्निवार्य है। आप उसे देखकर भी देखना नहीं चाहते। मैं उसका साथ न छोड़ूँगी। वह मेरा धर्म है।"

सुन्दरलाल के मुँह से निकल पड़ा—"तुम्हारा धर्म?"

साड़ी का सिरा ऊपर सरकाकर सुन्दरलाल को खुलकर देखते हुए धरिणी ने स्थिरता से कहा—"हाँ, मेरा धर्म!"

सुन्दरलाल स्तब्ध।

मैंने कहा—"मैं तुम्हारा धर्म नहीं जानता, मैं दुनिया का

न्याय जानता हूँ। वह कहता है, तुम्हारा कर्म अक्षम्य है—घोर दुष्कर्म है, क्योंकि तुम उसे छुपा नहीं सकी हो। तुम उससे धुल सकती हो, यदि तुम उसके परिणाम को बचा जा सको। दुनिया की न्याय-बुद्धि कहती है, कि तुम्हारा वह, दुष्कर्म धुल गया, यदि उसका परिणाम धुल गया हो। बोलो, क्या कहती हो, क्या तुम सब बखेड़ा काट डालने को तैयार हो ?"

धरिणी—"नहीं मेरा धर्म मुझसे यह नहीं कहता ?"

मैंने कहा—"तो मेरा धर्म मुझे कहता है, कि इस दुनिया पर थूक दो—और उसको चीर-चीर करके आग में छितरा दो।"

इतना कहकर मैं धरिणी के पास गया, और उसे खींच लाकर अपने पास की कुर्सी पर बिठा दिया। सतीश के पिता और सुन्दरलाल कान—सारे बैठे थे।

मैंने कहा—"आपने मेरा फैसला सुन लिया। मेरी यह अनाधिकार चेष्टा थी। मैं आवेश में बह गया—इसका मुझे थोड़ा खेद है। क्षमा करें। पर इतनी विनय है, कि धरिणी को यहाँ से उठायें नहीं। आप जो ठीक समझें, करें। मैं और बीच में न बोलूँगा।"

अब सुन्दरलाल ने कहा—"नवीन ने जो कहा, यह ठीक ही था। हाँ, उसने कहने में अपनी जवानी की कठोरता अवश्य मिला दी। हम भी यही ठीक समझते हैं। तुम्हारे हित में, समाज के हित में, और अपने हित में भी, कि तुम इस बखेड़े से हाथ धो डालो।"

धरिणी ने संकोच को जीतकर तेजी से कहा—"नहीं, मैं ठीक नहीं समझती। न अपने हित में और न समाज के हित में। हाँ, शायद आपके हित में हो, तो हो।"

झेंप सुन्दरलाल के मुँह पर फैल गई।

सतीश के पिता ने सुन्दरलाल की ओर मुखातिब होते हुए कहा—"तो क्यों नहीं इससे उस बदमाश का नाम पूछा जाय, और उसके साथ जबर्दस्ती इसे बाँध-दी जाय।"

सुन्दरलाल ने कुछ उत्तर नहीं दिया, और पसीना पोंछा।

सतीश ने सच्ची तीव्रता और आवेश में कहा—"उसे आप बद-माश कहते हैं, और फिर भी बहन को उसे सौंपना चाहते हैं! वह पाजी, लफंगा और कायर है। बहन के साथ उसका नाम भी लिया जाना मैं न सहूँगा।"

सुन्दरलाल का पसीना अभी पुछ रहा था।

पिता ने कहा—"चुप रह, तू सतीश। हां, सुन्दरलाल, उससे उस बदमाश का नाम मालूम किया जाना चाहिए।"

सुन्दरलाल उत्तर देने को तैयार हुए।

पिता—"सुन्दरलाल।"

कुछ अलग देखते हुए सुन्दरलाल ने कहा—"मैं क्या जानूँ? आप उससे—ही पूछिये न!"

पिता—"धरिणी, तुम्हारी अक्ल पर पत्थर पड़ गये हैं। जो रास्ता साफ है, सीधा है, वह तुम्हारी समझ में नहीं आता। तुम हमें भी डुबाकर ही छोड़ोगी। तुम क्यों नहीं उसीके यहाँ जा बैठतीं?"

धरिणी के आंसू उमड़ आये। गले को साफकर उसने कहा—"नहीं, पिता नहीं। ओह! नहीं। मैं मर जाऊँगी; वहाँ न जा सकूँगी।"

मनुष्य का हृदय! बेटी के आँसू आए, पिता की पशुता जागी। पिता ने अपनी बेटी के आँसुओं को कुरेदते हुए कहा—"ओह, देखता हूँ, तुम उससे बड़ी नफरत करती हो! ऐसा ही था, तो उससे खेल क्यों कर बैठीं?"

छूटा हुआ तीर लौट भी सके, पर शब्द नहीं लौट सकते। धरिणी चीख मारकर रो पड़ी। मैंने उसे संभाला; माथा सहलाया। ये शब्द उसके कलेजे को पार कर गये थे।

कुछ देर चुप्पी रही। सुन्दरलाल कुछ स्वस्थ हुए। उन्होंने पिता

से कहा—"इतना कुरेद-कुरेदकर उससे आप न पूछें। उसे इससे दुख होता है।"

हममें से प्रत्येक के भीतर एक राक्षस रहता है। वह जब चढ़ जाता है, तब जितना ही तुम स्निग्ध और कोमल पदार्थ उसे पिघलने की आशा से उसके सामने प्रस्तुत करते हो, उतना ही वह और दुर्धर्ष होता है। बेटी के दारुण दुःख ने पिता के अन्दर के राक्षस की भूख को और भी दारुणता से दहका दिया। धरिणी के शोक-उद्वेग का ज्वार जरा कम हुआ, कि पिता-राक्षस ने कहा—"मैं यह देखना नहीं चाहता—रोना, आंख बहाना, गश खाजाना। मैं नमक का नहीं बना हूं। यह सब-कुछ तो उसी को दिखाने थे—वह जो कोई भी हो। और कोई भी हो—मैं उसका नाम जानूँगा ही।"

धरिणी दयनीयता की मूर्ति हो रही थी। और कोई होता तो पानी-पानी हो जाता। पर ऐसे समयों में सम्बन्ध जितना ही घनिष्ट होता है, निठुरता उतनी ही वज्र-दन्त होती है। उसने पिघली हुई करुण प्रार्थना की आंखों में भरकर जरा—बिल्कुल-जरा—दया की मूक दृष्टि से भीख माँगी। पिता का अवश स्नेह उबल-उबलकर उमड़ा, पर चढ़ते हुए दानव के हाथ में पड़कर उसकी विकरालता का ईंधन बन गया।

सुन्दरलाल के भीतर जाने कोई अज्ञात आशंका घूम रही थी। अज्ञात आशंका से वे रह-रहकर काले पड़े जा रहे थे। उनकी बोलती बन्द थी।

मैंने कहा—"पिता, ठहरो यह दृश्य मैं और न देख सकूँगा! क्षमा करना, मैं बीच में बोला! पर कहो, तो मैं यहाँ से चला जाऊँ। बेटी तुम्हारी है, पीछे चाहे तुम इसे मार डालना।"

दानव की दानवता जब अपनी पूर्ण भीषण नग्नता लेकर सामने आई, तो वह सहम गया। सत्य को इस नग्नता से सामने पड़ते देख कर पिता का पारा एक-दम उतर गया। उस रूप के भीतर जो एक भयंकर सचाई थी, उसने उसे पानी-पानी कर दिया। पिता को सचमुच

मालूम होगया, वह बेटी को मार ही डाल रहा था। उसने कहा—"न, न, न । मैं नहीं कहूंगा। वह नहीं बतलाना चाहती, न बतावे। मैं उस पाजी का नाम जानकर करूँगा भी क्या ?"

पर मुझे यह ठण्डापन न रुचा । मैं न-जाने क्यों, मन-ही-मन उसका नाम प्रकट हो जाने की सम्भावना की ओर चाह और उत्सुकता से देख रहा था। मैं उस व्यक्ति को जानना-ही चाहता था। मैंने कहा—"मैं नहीं समझता, धरिणी को उसका नाम प्रकट कर देने में कुछ आपत्ति हो सकती है। मैं देख सकता हूँ; वह उसे घृणा करती है। उस शख्स को जान जाने से हम उसकी बदमाशियों से बच सकेंगे। उसके प्रकट हो जाने से लाभ ही है, हानि कुछ नहीं। धरिणी जानती है, वह उस अभागे का नाम गुप्त रखकर उसकी मूर्खताओं को खुला अवकाश देना ठीक नहीं समझेगी।"

धरिणी का चेहरा इस पर तमतमा उठा । उसने कठिन आवाज में कहा— "अभागा ! मूर्खता !! वह अभागा नहीं है। संसार के पूरे अर्थों में वह सौभाग्यवान् है। वह मूर्ख भी नहीं है । नवीन, वह हमें-तुम्हें सबको, बरसों दुनियादारी की शिक्षा दे सकता है। वह दुष्ट है, और जो कुछ उसने किया है, यह उसकी दुष्टता है।"........यहाँ क्षण-भर में जैसे आँख से कुछ कह डालना चाहा। कहा—"पर क्या आप समझते हैं, उसका नाम प्रकट कर देने में सबका हित है ? क्या आपको विश्वास है अब से वह सचमुच अपने-आपको अभागा न समझता होगा ? क्या आप जानते हैं, उसके प्रकट हो जाने पर उस पर क्या आ बीतेगा? वह पिस जायेगा। आप कहेंगे, यह मेरा हक है। शायद ठीक हो। पर मैं कहती हूँ, मेरा इसमें क्या लाभ है ? मुझे दूषित कहा जाता है—मैं दूषिता हूँ। क्या उसके प्रकट हो जाने पर मेरा लांछन कम हो जायगा ? नहीं, बिल्कुल नहीं। उल्टे वह मेरा दुश्मन—मेरी जान का दुश्मन हो जायगा। क्योंकि इस तरह मैं, जिसे वह अपनी आबरू समझता है—उसे दुनिया की मौज के महफिल में पीकदान की जगह जा बिछाऊँगी।

और अब यदि उसमें जरा-भी सहृदयता होगी, वह मुझे इज़्ज़त से देखेगा। जानेगा विशाल-हृदयता किसे कहते हैं, क्षमा और उदारता किसे कहते हैं। और शायद मेरे उदाहरण से कुछ शिक्षा लेने का प्रयत्न करेगा !......"

सुन्दरलाल का चेहरा बिल्कुल शून्य था। धरिणी ने अपनी निगाह को उस शून्यता पर टिका कहा—"नहीं, मैं उसका नाम नहीं बताऊँगी। मैंने प्रतिज्ञा की है, उसका नाम जबान पर न लाऊँगी। मैं उससे नफरत करती हूँ। दिल कहता है, उसे बिलखते देखकर भी मैं पसीजूँगी नहीं पर मैं यह नहीं मानती। मैं परमात्मा से चाहती हूँ—वह उसका कल्याण करे।"

इस उबलते उबाल को इस तरह वाणी से निकाल डालने के बाद वह फिर निस्तेज हो गई। मैं कुछ न बोला। सुन्दरलाल अभी उस शून्यता से उबर न सके थे। पिता हतबुद्धि थे। सतीश भी वैसा-ही कर्तव्य-विमूढ़ था।

इस कुछ मिनट की स्तब्धता में विलक्षण त्रास और विलक्षण शान्ति भरी थी। पिता को चेत हुआ, और उन्होंने कहना आरम्भ किया—"यह सब ठीक है। मैं तुम्हें दोष नहीं देता—धरी। पर किया क्या जाय ?"

धरिणी—"किया क्या जाय ? मैं समाज के लिये अवांछनीय हूँ, आपके लिये अस्पर्श्य हूँ, मुझे मिट जाना चाहिए। मैं मिट जाऊँ,—बस, यह किया जाय, और क्या किया जाय ? आप उसे देशांतर में चला जाना—अलक्ष्य हो जाना, कहते हैं, मैं उसे जन्मान्तर में चले जाना—मर जाना कहती हूँ। अन्तर कुछ अधिक नहीं है। दिशा दोनों की एक-ही है।"

सुन्दरलाल सहम उठे। कहीं उनके विचार भी तो इसी तरफ नहीं जा रहे थे ? पर उन्होंने दिल में इसे अङ्गीकार करने से इन्कार किया। सतीश विचलित हो गया। पिता खीझ उठे। कहा—"यह क्या कहती —धरी !"

मैंने कहा—"धरी ठीक कहती है, पिता।"

धरी ने कहा—"मैं ठीक कहती हूँ, पिता।"

सुन्दरलाल के जागने का अब समय आया। उन्होंने मुँह पर हाथ फेरा, जेब से एक इलायची निकाल कर मुँह में दी, और कहना शुरू किया—"इतना बढ़ने की हमें जरूरत नहीं है। बहू के सत्साहस और दृढ़ता पर मैं पहिले ही से मुग्ध हूँ। वह अपराधी का नाम नहीं बताना चाहती। उसके प्रति उसने जिन भावनाओं का परिचय दिया है, उसके लिए मैं पुरुष की हैसियत से बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं सच्चे दिल से प्रार्थना करता हूँ कि परमात्मा अपराधी को फिर उधर भटकने के लालच से बचावे। मुझे दिखता है, सम्भव हो सकता था, उसका नाम प्रकट हो जाने पर किसी का भी भला न होता। बहू ने ठीक कहा हैं, कि उसका खुद का भी भला इसी में है कि उस व्यक्ति का नाम छिपा ही रहे। उसने अपनी भलाई के साथ ही जो इस कृत्य से दूसरे की भलाई हो-जाने दी है, उसके लिये हम बहू के कृतज्ञ हैं। पर इससे अपराध की गुरुता कम नहीं होती। न समस्या का ही एक पेच खुलता है। सवाल यह है, अब क्या हो। मरने की बात तक बात खींचना ठीक नहीं। मरना पुण्य नहीं। हम यों-ही नहीं मर जाते। इसमें जितनी हिम्मत की जरूरत है, उतनी—उतनी ही यह बुरी बात है। आखिर, यह बुरा काम है। बहू ऐसा काम कभी नहीं कर सकती;—मेरा मतलब न करेगी। पर किया क्या जा सकता है—यहाँ मेरी भी अक़्ल काम नहीं देती। घर पर तो वह रह-ही सकती है-मेरे या आपके। हमको कब बर्दाश्त होगा कि वह दर-दर मारी-मारी फिरे! पर पहिले मार्ग को यदि बहू स्वीकार नहीं करती, तो एक दिन वह भी आयेगा कि गली का आदमी हमारी तरफ मुँह बिरा जाया करेगा। दो-चार कटी बातें हम पर फेंकने का अधिकार-प्रयोग किये बिना किसी भी राह-चलते आदमी से हमारे घर से आगे नहीं निकला जायेगा। उस दिन के लिए, सब तरह की बौछारों के लिए,...क्या!...बहू जाती है? अच्छा है,

ठीक है,...से जाने दो ।...."

मैंने देखा, धरिणी उठकर वहाँ से चले जाने को उद्यत हो रही है। उस समय उसे देखकर एक अज्ञात अशङ्का मेरे भीतर घर कर बैठी। उसके मुँह पर दारुण निश्चय का भाव फैला था। वह क्या था ?.... यह लड़की क्या करने पर उतारू हो बैठेगी ?......

मैं भी सहसा उठ खड़ा हो गया।

वह एक निगाह मुझ पर डालती हुई चुपचाप द्वार से बाहर होगई।

मेरे भीतर जैसे एक विलोड़न मच उठा।

सुन्दरलाल ने कहना शुरू किया—"....हाँ, मैं कहता था, कि एक दिन वह आयेगा कि...। और उस दिन के लिए, उस दिन की गालियों की बौछारों के लिए, गलियों के जूतों के लिए, हमको अपना सिर तैयार कर लेना होगा। हमको अपनी, अपने कुटुम्ब की, सब की आबरू को अपनी आकांक्षाओं को, अरमानों को, मिट्टी में लिथड़ते देखने के लिये तैयार हो जाना होगा—क्योंकि हमें बहू की गई गंवाई आबरू को बचाना है। पिता, आप देखते हैं न ? उस दिन की बौछार के लिए अपने सिर को, और उस दिन के दृश्य के लिए अपने जी को मजबूत करने के लिए मुझे अपने से बहुत झगड़ना पड़ेगा। पर मैं यह करूँगा। आप कहेंगे, तो सब करना ही होगा। मैं बुड्ढा नहीं हूँ, शायद मैं कर भी सकूँगा। पर मैं आपकी बुजुर्गी को धूल में लिथड़ती देख सकूगा या नहीं—इसका भरोसा मुझको नहीं। आप अपने दिल को मजबूत कीजिए। अगर आप तैयार हैं, तो मैं पहिले हूँ। कहिए आप क्या कहते हैं ?"

पिता—"सुन्दरलाल, तुम ठीक कहते हो। पर जो होना-ही है, उसके बारे में अधिक सोच-विचार करने से क्या निकलेगा ?"

सुन्दरलाल...."यही तो मैं भी कहता हूँ। जो होना है, सो होगा ही। आबरू कोई नई तो आयगी-ही नहीं। औरत के पीछे कितनों की

आबरू गई है। एक हम भी सही।"

सुन्दरलाल खुद बचा रहकर बिचारे पिता से अपने मन की सब करा लेना चाहता था। पर वह क्यों इस बुरी तरह से धरिणी के पीछे पड़ा है ? मैं न समझ सका।

मैंने होंठ चबाकर कहा—"सुन्दरलाल !"

उसने तपाक से कहा—"ओह क्षमा कीजियेगा। आप चैन की नींद सो सकेंगे। हमें अपनी जान—नहीं उससे भी बढ़कर अपनी आबरू—को बचाने की फिक्र पड़ रही है। कुछ सख्त-सुस्त निकल जाय तो माफ करना।"

मैं कट गया। मैंने कहा—"आपकी इन बातों से मुझे बलात् क्या ख्याल होता है, जानते हैं ?"

अविचलित रहकर उसने उत्तर दिया—"जानता तो नहीं, लेकिन देखता हूँ, आप इस मामले में काफी दिलचस्पी ले रहे हैं।"

मेरा गुस्सा हद पार कर गया। मैंने कहा—"पिता, मैं अब और यहाँ न ठहर सकूँगा। क्षमा कीजिये। मुझे जाना ही होगा। सुन्दर लालजी जहाँ हो, वहाँ ऐसे कामों में मुझ से आपको क्या सलाह मिल सकेगी ! मेरी सलाह आपको रुचेगी भी नहीं। पर क्या आप मुझे आश्वासन दे सकेंगे, आप धरिणी को अपने घर से खदेड़ नहीं देंगे ?……"

उनका क्रोध का ज्वार जो अचानक उतरा था, तो वह उनके पारे को बिल्कुल शून्य पर छोड़ गया था। यहां से अभी वह ज़रा-हीं चढ़ पास थे। उन्होंने कहा—"नवीन, तुम मन में ऐसी बात को जगह ही कैसे दे सकते हो ? मैं बाप होकर अपने जिगर की इकलौती बेटी को खदेड़ दूँगा !"

मैं इतना सुन, उठ खड़ा हुआ। सुन्दरलाल ने एक भेद भरी दृष्टि पिता के पेट में पहुँचा देनी चाही, मैंने यह देखा। पर मैं रुका नहीं। सुन्दरलाल के बारे में एक भारी सन्देह, और धरिणी के बारे में एक

भारी आशङ्का को दिल में दुबका, मैं वेग से कमरे से बाहर निकल आया। मुझे नहीं मालूम, मेरे पीछे क्या हुआ।

५

सीधा आकर अपनी लायब्रेरी में लेट रहा।

शशि के साथ विवाह-सम्बन्ध—मेरे बड़े दिनों की संचित अभिलाषाओं का स्वर्ग था। और कल ही मैं उस स्वर्ग-सौभाग्य को पाने वाला था। मैं उस सौभाग्य की मनोरम कल्पनाएँ खड़ी करके उनमें रस लेने का प्रयत्न करने लगा, पर सफल न हो सका। चलते समय धरिणी के मुख पर जो एक भारी निश्चय की कठिन रेखा मुझे दीख पड़ी थी, वह स्मृति से हटकर देती ही नहीं थी। और यह मेरी झुँझलाहट का कारण था। मैं इस समय उसकी याद नहीं चाहता था। वह याद कलखती है, और मैं उस समय बिना किसी सोच के, बिना किसी कलक और कसक के, निर्द्वन्द्व अपने सौभाग्य की कल्पना-धारा में बह चलना चाहता था।

मेरे अपने स्वभाव में इसकी बड़ी शिकायत है। मैं दया, अनुकम्पा में विश्वास नहीं करता। निस्वार्थता को मैं मानता नहीं। जहाँ निस्वार्थ की आवाज उठाई जाती है, मैं वहाँ कमीने स्वार्थ की गन्ध पाने का प्रयत्न करने लगता हूँ। निस्वार्थता हो नहीं सकती, और इसलिए जब कभी मैं अपने में कोई ऐसी चीज पाता हूं—जिसके लिए मेरे पास सिवाय इस 'निस्वार्थता' के और कोई शब्द नहीं, तो मैं चिढ़ उठता हूँ। अपने में से उसे खोद फेंकता चाहता हूँ। पर मुझे बहुत दुःख है, मैं समय-समय पर न जाने क्यों ऐसे काम कर ही जाता

हूँ, जो लोगों की आँखों में अद्भुत उत्सर्ग के काम जँचते हैं। मैं अपने को इसके लिए बहुत कोसता हूँ। जब उत्सर्ग जैसी कुछ चीज है ही नहीं, तो जो 'उत्सर्ग' समझा जाता है, जरूर ही वह कोई जाली चीज है, बुरी चीज है। इससे मैं 'उत्सर्ग' से दूर भागता हूँ, और बड़ा घबराता हूं। कभी मैं अपने बारे में इस शब्द का प्रयोग किया जाना शुभ नहीं समझता।

पर, समझ नहीं पड़ता क्यों, मैं पूरे निश्चय के बाद भी, ऐसे कामों में पड़ जाता हूं, जिनका 'स्वार्थ' से सम्बन्ध मैं जोड़ पा नहीं सकता। दो-तीन घटनाएँ मुझे याद हैं। मैं भूल जाना चाहता हूँ—फिर भी याद हैं। मैं उन्हें अपने स्वभाव की दृढ़ता (integrity) पर लाँछन समझता हूँ।

मैं बी० ए० में पढ़ता था। गर्मियों के दिन थे। शाम के समय अपने छूंटे मित्रों के साथ बग्घी में बैठा, एक बहार की जगह, मौज के लिये जा रहा था। राह में एक भिखारी पीछे लग लिया। भिखारी को दया देना पुण्य नहीं है, पाप है—मैं बहुत पहिले इस नतीजे पर आ चुका था। वह लूला था, और अंधा होने वाला था। अब तक तो एक हाथ के सहारे मेहनत करके जो कमा सकता था, और अपनी एक बरस की बेटी और एक साल के बच्चे का पेट भरकर, उनके बचे टुकड़ों पर और उनके आशीर्वादों पर गुजर करता था, पर अब आँखों की रोशनी भी जाती रही और वह भीख माँगने पर लाचार हुआ। इस तरह से कभी कम और कभी ज्यादे, औसत उतना ही पड़ जाता था, जितना उसके कमाते रहने के वक्त। पर भीख की बीभत्सताएँ, यातनाएँ और नीच तिरस्कार सौदे में नहीं थे। वह उन्हें गिनता भी नहीं था। कभी अगर बच्चों को भूखा रहना पड़ता, तो कोई बात नहीं थी। पहिले दिनों में भी, उसके तनिक अस्वस्थ हो जाने पर यह तो भुगतना ही होता था। यह सब मुझे पीछे मालूम हुआ। जात का वह चमार था, और नाम था उसका रेढ़ू।

रेढ़ू बग्घी के पीछे हाथ फैलाये हुए, एक पैसे के नाम पर रिरियात हुआ आ रहा था। जहाँ हम जा रहे थे, वहाँ की मौज के खर्च का बजट हम ५०) बना चुके थे। हमने उसे अपने पीछे भागते आने दिया। पैसा देने का इरादा न था, पर लुत्फ उठाने का इरादा जरूर था। दया करना पाप है, मैं कम-से-कम इसे सिद्धान्त के तौर पर मानता था। दयनीयता से आनन्द उठा सकने के लिये कौशल चाहिये। यह कौशल की साँसारिकता का लक्ष्य है, और वह आनन्द जीवन का ध्येय। मैं मानता हूँ, मेरे साथी इस सिद्धान्त तक नहीं पहुंचे थे। उन्होंने कभी इस पर विचार भी न किया होगा, और कई बार भिखारियों की झोली में इकन्नियाँ भी डाल दी होंगी। और मैं उन्हें कौड़ी भी न देता था। पर इस समय की उनकी अविचारित पाषाणता मेरे अनुकूल थी।

दो फर्लांग वह भाग चुका होगा। मुझे एक तरकीब सूची। सड़क के किनारे रेत में एक छोटा कंकड़ रेढ़ू को जताकर फेंकने से, बड़ा मजा आयगा। वह तब झपट कर ढूँढ़ने लगेगा। नीचे, और जब कुछ न पायेगा, फिर दौड़ेगा। उसे आशा होगी। कुछ न कुछ फेंका गया है, और फिर फेंका जायगा। तरकीब की गई, और बड़ी कामयाब रही। जेब में एक कागज के टुकड़े को खूब गुड़ी-मुड़ी करके रेढ़ू को दिखाकर सड़क के एक तरफ मिट्टी में फेंक दी। वह उसकी तरफ लपका, और खोजने लगा। दो-ढाई फर्लांग बग्घी निकल गई, और वह फिर भागा-भागा आया।

"बाबू, धर्म के नाम पर..........."

धर्म के नाम पर ! मुझे गुस्सा आगया। अधिकार वाले का गुस्सा गर्म नहीं होता। मैंने बड़ा मजा लेते हुए कहा—"धर्म के नाम पर।"

वह न समझा। आशा में श्रद्धा बुरी चीज है। वह पीछे लगा ही रहा।

कुछ दूर और चले आने पर मैंने कहा—"जा, धर्म की डिगरी लायगा, तब कुछ मिलेगा।" शब्दों से वह कुछ न समझा होगा। पर लहजे ने उसका काम तमाम कर दिया। आशा पर तुषार पड़ा, और वह सिर को हाथों में थाम, वहीं ढह पड़ा।

मुझे एक धक्का लगा। पर तुरन्त मैं उस धक्के को समझने, उसका विश्लेषण करने की कोशिश में लग गया। इससे उसका बोझ कुछ कम हुआ। गाड़ी कोई दो फलांग आगे निकल गई होगी, समझने का प्रयत्न व्यर्थ हुआ। वह नितान्त सादी-शुद्ध वस्तु थी, विश्लेषण उसका क्या होगा? मैं विश्लेषण के प्रयत्न में अकृतकार्य रहा, और चलती बग्घी में से कूद पड़ा।

कूदते ही गिरा। शायद चोट भी आई हो; पता नहीं। उठा, और पीछे को दौड़ा। रेढू, वहीं-का-वहीं काठ-मारा-सा बैठा था। मैं उससे लिपट जाने को ही था, कि संभल गया, हुक्मी आवाज बनाकर कहा—"ओ रे, भिखमंगे!"

रेढू चौंका। उसने आँख मलते-मलते मेरी ओर देखा। वह निश्चय करना चाहता था कि जो—कुछ दीख रहा है, क्या वास्तव वही है।

आगे की बात मैं न कहूँगा। मुझे उस भीषण शब्द 'उत्सर्ग' की याद आती है। मैंने रेढू के कुटुम्ब के खाने का चार महीने का प्रबन्ध करके उससे छुट्टी ली, और होस्टल आकर शर्म से स्वीकार किया—"मैंने यह क्या किया? जीवन को जो मैंने समझा है, यह चीज़ उससे मेल नहीं खाती। यह 'उत्सर्ग' नहीं है, तो सीधा स्वार्थ-शोध भी नहीं है।" यही मेरी शर्म का कारण है। इसके कारण मैं अपने पर कई बार गुस्सा कर चुका हूँ।

दूसरा किस्सा यह है। यह भी लगभग उसी समय का है। मेरी सोने की घड़ी चोरी चली गई। पर ऐसी बातों की ज्यादे फिक्र करना मेरे स्वभाव में नहीं है। मुझे मालूम था, यह एफ० ए० में पढ़ने वाले एक फ़ैशन-प्रेमी महाशय की कृपा है। वह छोटे-छोटे अनुग्रहों के लिये

खासी प्रसिद्धि पा चुके थे। इतने में ही नौकर ने ख़बर दी, एक आवारा लड़की होस्टल की परिधि की टट्टी की ओट में दुबकी हुई पाई गई है। लोगों ने सहसा ही उस पर संदेह कर लेना अनुचित न समझा। पर मैं जानता था, पहिली चोरी का चोर हमेशा खाने की चीज चुराता है, और अभ्यस्त चोर टट्टी की ओट में नहीं छिपता। पर मैं गया। लड़की टट्टियों से चिपकी हुई गुड़ी-मुड़ी हुई पड़ी थी। जाड़ों के सवेरे सात का समय था। मालूम होता था, उसने रात वहीं गुजारी है। फटी-सी जाकट और एक जाँघ तक सुतने के चीथड़े के सिवाय कपड़े के नाम पर उसके बदन पर कुछ न था।

मैंने कहा—"ओ लड़की !"

उसने मुँह उठाया। वह रेड्डू की छोकरी थी। उसने मुझे देखा, पहचाना, और साहस पाकर अपनी कँपकँपी को भगया।

मैं अपनी कमजोरी पर विजय न पा सकने के लिए अपने से चिढ़ा हुआ था—मैंने रेड्डू को सहायता क्यों दी ? और भी उस लड़की की मूक आँखों में करुणा की भीख के साथ जो मेरी करुणाशीलता के प्रति विश्वास था—उससे मैं रस गया। मैं नहीं चाहता, मुझे कोई करुणामय कहे। मैंने डपटकर कहा—"बतारी, ओ, छोकरी, घड़ी कहाँ है ?"

उसकी आँखों में अद्‌भुत विस्मय के साथ एक अव्यक्त लज्जा फैल गई। मानो वह इस तिरस्कार को न सहती, यदि मेरे स्थान में और कोई व्यक्ति होता।

मैंने कहा—"बताती क्यों नही ? क्या आँखें फाड़ रही है ?"

उसने आँखें फैला कर मेरी ओर देखा। आँखों में पानी के तार फैल रहे थे। मैं गड़ा-सा जा रहा था। मन धँस रहा था। पर पूरी शक्ति का प्रयोग करके मैंने शरीर को सँभाला, और लड़की की कनपटी पर एक तमाचा रख दिया। मैं जानता हूँ, मुझे उस समय कितनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना पड़ा।

लड़की फूट पड़ी। मेरी मार पर नहीं, किसी और ही चीज पर।

मुझे विश्वास है, इससे कहीं ज्यादे मार वह खा चुकी है, और मेरे हाथों से तो, मैं अब जानता हूँ, वह कठिन से कठिन पीड़ा धन्यवाद के साथ सह जाने की लालसा रखती है। वह और चीज क्या थी ?

ओह ! मुझे क्या हुआ ! मैं पागल हो गया। पागलपन के सिवाय और हो ही क्या सकता है ? झपटकर मैंने उसे गोद में उठा लिया। उसे चूमा, उसके आँसू पोंछे और कपड़े उतार कर, उसे पोंछकर अपने बिस्तर में दुबका दिया। यह उन्माद बहुत टिका। दस-बारह रोज तक मै पागल रहा। लड़की को बुखार हो गया। डाक्टर से चिकित्सा कराई, सुश्रूषा की, सौ काम का अर्ज कर, उसकी परिचर्या करता। अब मैं याद करता हूँ—तो हँसता हूँ। सात रोज में वह अच्छी हो गई। मैं उसे स्कूल ले गया। तीन महीने के खर्च के लिए २००) जो उसी दिन मेरे पास आये थे, मैंने उसके नाम जमा करा दिये। वह स्कूल में दाखिल कर दी गई। मैंने रेह्ड को खबर दी, कुछ चीज उसके हृदय से निकली और तरल बनकर उसकी आँखों में से ढरक पड़ी। मैं शर्तिया कह सकता हूँ, वह आँसू मीठे आँसू थे। जिस चीज के वे आँसू बने थे, वह अमृत से भी मीठी है। कृतज्ञता से भी मधुर है। कृतज्ञता नहीं है, वह कुछ और है। उसके लिए मेरे पास शब्द नहीं। मैंने उस समय एक विमल स्वर्ग को अपने अन्दर तैरता हुआ पाया। पर मैं स्वर्ग से डरता हूं, और अपने को कभी धन्यवाद देना नहीं चाहता। मुझे निश्चय है, वह उन्माद था और उस वक्त जो कुछ हो गया उसकी याद जब उठ ही आती है तो उस पर तिरस्कार फेंककर मैं उसे बुझा डालने की कोशिश करता हूँ।

ये कथाएँ जान लेने के बाद पाठकों को मेरी कठिनाइयाँ समझने में आसानी होगी। धरिणी की निरीहिता और असहायता को जब मैंने अपनी इन आँखों के सामने खड़ा पाया, जब मैंने सांसारिकता को उसके

बिगाड़ने के बाद उसकी मखौल उड़ाते देखा, और फिर अंत में चलते वक्त जब मैंने धरिणी के चेहरे पर एक बिषम दृढ़ता की दारुणता को फैल जाते देखा, तब मुझे कुछ ऐसा ही सा धक्का लगा। मेरे दिल में हठात् एक आशंका जगह कर बैठी। यह आशंका जितनी अज्ञात और अज्ञेय थी, उतनी दुस्सह सम्भावनाओं से भरी हुई थी। मेरे अन्तः से एक वेग उबला—मुझे इस आशंका के मार्ग में पड़ना ही होगा। इस आशंका को रोकना ही होगा।

पर मैं बुद्धि को अभी नहीं खोना चाहता। यह बीसवीं सदी है। बहुत कुछ देकर हम इस तक पहुँचे हैं। उन्नीस शताब्दियों को गाड़ देने के बाद हमको यह युग मिला है। और इस युग की देन का नाम है बुद्धिवाद। बुद्धि ही सब बातों में, सब व्यापारों में, प्रमाण है—यह इस युग का मंत्र है। तो मैं जानना चाहता हूँ वह 'अंतः' क्या है, जहाँ से इस वेग का स्फुरण होता है? और यदि यह स्फुरण, 'वेग' की यह अनिवार्य आज्ञा, न्याय्य और उचित है, तो वह मस्तिष्क से अद्भुत क्यों नहीं होती? 'अच्छे और बुरे' की निर्णायक जो बुद्धि है, यह स्फुरण उससे नितांत स्वतन्त्र क्यों है? क्यों नहीं यह मस्तिष्क का शासन स्वीकार करता? या यह 'अंतः', कुछ ऐसी चीज है, जो मस्तिष्क से भी ऊपर है, और मस्तिष्क के अनुशासन का अधिकारी है?

मैं उस 'वेग' की आज्ञा को अच्छी तरह समझ लेता हूँ। वह क्या है, क्यों अच्छा, क्यों उपादेय है? और फिर क्यों इतनी विवशता से अनिवार्य है। मैं उसके काबू में नहीं हो रहना चाहता, मैं उसे काबू में रखना चाहता हूँ।

एक और बात है। मैं अपने दिमाग से पूछता हूँ, क्यों मुझसे यह आशा की जाती है कि मैं अपने विवाह की खुशी के अनुभव से विच्छिन्न होकर धरिणी की चिंता मोल लूँगा? मुझे क्यों इस प्रकार का हुक्म मिलता है? इस हुक्म के पालन करने में मेरे निज का हित क्या है? मैं क्यों अपने इस निश्चित सुख को आशंका के मुँह में झोंक दूँ?

मुझे उसके लिये क्यों उकसाया जा रहा है, और वह क्या है, जो चैन नहीं लेने देता ?

मैं मस्तिष्क से यह पूछता हूँ, और वह उत्तर देता है—"कैसा उकसाना ? मैं तुमसे कब कहता हूँ, तुम इस सामने आते हुए आनंद को छोड़ दो ? और किसके लिए ? अपने भविष्य के लिए ? नहीं, अपने भविष्य के हनन के लिए। सचमुच, मैं कहता हूँ, यह मूर्खता है। मैं तुम्हें ऐसी सलाह न दूँगा।"

मैंने केवल मस्तिष्क को हुक्म देने का अधिकारी माना है। यदि उसने नहीं दिया तो यह 'आदेश' किसका है ? कहाँ से आया ? क्यों इतनी निर्ममता से मुझे यह आदेश कुरेद रहा है ?

मुझे इसका जवाब नहीं मिलता और मैं बड़े क्लेश में हूँ। यह नहीं कि मुझे इस 'खुशी' से मुँह मोड़ते दिक्कत होती है। नहीं। और दिक्कत होती ही हो तो उसका पार कर लेना मैं जानता हूँ, मेरे लिये कठिन नहीं। पर सवाल यह नहीं है। मैं मुँह 'क्यों' मोड़ूँ ? क्यों ऐसा करना चाहिये ? सवाल यह है। क्या मस्तिष्क कहता है, ऐसा करना उचित है ? नहीं, सो ही तो नहीं। यदि मेरा मस्तिष्क ही इसे उचित और उपादेय मार्ग ठहरा देता, तो कुछ भी कठिनता न होती। मैं सच कहता हूं; बुद्धि का चाबुक साथ लेकर मैं खुशी के नैसर्गिक आकर्षण को सहज ही भगा देता। पर मैं देखता हूँ—बद्धि साथ नहीं देती।

तो क्या यह हृदय है ? नहीं मेरा अपना अनुभव है, हृदय सदा अधोगामी है। मैं पहले ही कह आया हूँ; मैं उस का अविश्वास करता हूँ। आकर्षण उसका विषय है। वह खिंचना जानता है, आदेश देना नहीं। वह गिरता है, और ऊसके साथ-साथ गिरना कठिन नहीं होता, वरन् न गिरना कठिन होता है। पर यहाँ ऐसा नहीं है। यह स्फूर्ति जो उदय हुई है, इसके साथ उठना कठिन है, जबकि उसके साथ न उठने में एक स्वाभाविक आकर्षण है।

तो फिर यह क्या है ?

मैं नहीं जानता—नहीं जान पाता। नहीं जान पाता, फिर भी इसके सम्बन्ध में मुझे बलात् व्यस्त होना ही पड़ रहा है—इससे मुझे बड़ा खेद होता है। मैं इससे सर्वथा निश्चित क्यों नहीं रह सकता ? क्यों मुझे यह सोचना ही पड़ता है ? इसी की मुझे व्यथा है, और मैं इसे चरित्र की दृढ़ता (integrity) की कमी मानता हूँ।

'इन्टीग्रिटी' व्यक्तित्व—निश्चित, स्पष्ट व्यक्तित्व—जो सब ओर से पूर्ण हो, जिसमें कहीं, किसी कोने में भी, कोई बारीक सा भी छेद न हो—ऐसे दुर्गम व्यक्तित्व—जीवन के आदर्श की मेरी कल्पना है। फिर चिन्ता नहीं, वह व्यक्तित्व किस धारणा पर खड़ा है। धारणा स्वयं निर्मूल ही चाहे हो, दुर्भेद्य व्यक्तित्व के कारण वह भी ठोस बन जाती है।

मैंने देखा, मेरा यह आदर्श छिना जा रहा है। मेरे अभेद दुर्ग में सहज ही यह स्फूर्ति—यह भ्रान्ति—घर किये जा रही है। मैंने अपनी कामनाओं की मणि—अपने आदर्श—को कसके पकड़ कर धरिणी को यह खत लिख डाला—

"धरिणी, मैं नहीं जानता, तुम किस हालत में हो। न ही जानना चाहता हूँ। मैं यहाँ हूँ, तुम वहाँ हो। मैं नवीन हूँ, तुम धरिणी हो। तुम दुख की ओर बढ़ रही; मैं आगे आते सुख की प्रतीक्षा में हूं। मैं दुःख का नाम नहीं सुनना चाहता, दुख में भाग लेना तो क्या ? शायद तुम समझी हो, मैं तुम्हारा दुख बँटाना चाहता हूँ। मैं नहीं जानता मेरे किस शब्द से तुमने यह समझ लिया। पर यह तुम्हारी भूल है। अपने हित को तनिक भी खटाई मे डाल कर तुम्हारे दुख निवारण की चेष्टा के लिये मैं बाध्य नहीं हूँ। मेरी ऐसी कुछ इच्छा भी नहीं है। अच्छा हो, मेरी ओर से मन में किसी प्रकार की आशा को स्थान न देकर मुझे स्वस्थ-चित्त रहने दो।

तुम्हारा,
नवीन।

मैंने कुछ न सोचा। खत को फिर देखा भी नहीं। और उसे तुरन्त धरिणी के पास भिजवाकर ज्यों-ही एक निश्चित साँस ली, त्यों-ही मैंने देखा भीतर से दुष्ट असन्तोष भी अपना सिर उठा रहा है।

घड़ी से टन् की आवाज हुई और मैंने देखा—साढ़े आठ बज गये।

६

सन्ताप उठने न देने में जितनी शक्ति की आवश्तकता है, उसके एक बार उग-उठने के बाद उसे बढ़ने न देने में कहीं ज्यादे शक्ति की आवश्यकता है। इस दूसरी शक्ति की साधना का नाम योग साधन है। वह सब जो अनिष्ट है, सन्तापकर है, प्रथमावस्था में तो वह आयेगा ही। वही तो मनुष्यता की उन्नति का आधार है। योग उस आधार पर; उस सहज दुर्बलता पर, खड़ा होता है। उस पर खड़े होकर दुर्बलता को दबाये रखना, और उसे बढ़ने न देना, चाहे जैसे हो वैसे—छल से, बल से, आदेश से, या रोकर—यही योग की सारी विद्या है। योग का सारा विज्ञान और सारी कला इसी में है। प्रक्रियाओं के प्रभेद से इसके कई शास्त्र बन पड़े हैं। अगर और कुछ नहीं बनता, रोकर ही इन पशुताओं से ऊँचे उठना चाहते हो तो हठ-योग की शरण लो। कर्म-योग के सहारे तुम सहज ही इन कुचेतनाओं को छल सकते हो, कर्मयोग को पकड़ो। यदि कुछ शक्ति है तो उन्हें बल से जीतो—तुम्हारे लिये राजयोग है। नहीं तो सब से उत्तम यह है, केवल उन्हें आदेश-भर दे दो, और विशुद्ध सत्य में लीन हो जाओ। यह सत्य-पूजा—ज्ञानयोग है! अगर और कोई मार्ग निकाल सको, और सही। वह तुम्हारा अपना योग बन सकता है—भक्ति या और कुछ।

पर मुझमें जो यह असन्तोष उठा, मुझसे दबाये न दबा । सिवाय रोने के, ऊपर की और कोई बात मेरे बस की नहीं दीखी ! मैं घर से बाहर निकल पड़ा । सोचा, कहीं सूनी जगह पड़कर 'इसे' मना लूंगा, और फिर विवाह की खुशी में डूब जाऊँगा ।

मुझे अपने से जो चिढ़ उठ रही थी, और जिसे मैं असन्तोष कह रहा हूँ, पाठकों के सामने उसकी व्याख्या करने की जरूरत नहीं। वह असन्तोष उस घरिणी वाली चिट्ठी पर था। मैंने क्यों वैसी चिट्ठी लिख दी ?

पर दूसरी चिढ़ जो मुझे तङ्ग कर रही थी, और जिसके लिये मैं यह सब योग की बातें कह गया, यह थी कि मैं उस चिट्ठी पर क्यों चिढ़ता हूँ ? उस चिट्ठी पर, जो मेरे जीवन सिद्धान्त की अतिशय तन्मयता में लिखी गई थी, मुझे क्यों चिढ़ना चाहिये ? पर मैं चिढ़ता हूँ, और इस चिढ़ को दबा नहीं पाता इस पर मैं बुरी तरह चिढ़ रहा था। इस द्विविधावस्था में नहीं मालूम मैं कहाँ से किधर जा निकला। जब मैंने अपने को बैठा पाया और सिर उठाया तो देखा, सामने गंगा बह रही है और मैं एक घाट के चबूतरे पर बैठा हूँ ।

❀ अपनी मनस्थिति और मस्तिष्क के घात-प्रतिघात को समझाने के लिये मुझे जरा खुलासा बात करनी होगी । उस समय इस खुलासा ढंग से नहीं सोच सकता था—नहीं सोच सकता था। अब मैं उससे पर्याप्त समय के फासले पर हूँ, और उन्हें यथा विहित रूप में देख सकता हूँ । चित्र आँख से सटा रहने से नहीं दीखेगा— वह तो दूर से दीखेगा। और जितना ही चित्र बड़ा होगा अंतर उतना ही अधिक होना आवश्यक है ।

❀ आधुनिक उपन्यासों में इस तरह की बाल की खाल निकालने में कई पन्ने काले कर देना क्षम्य माना जाने लगा है । मैं इसे हिन्दी का सौभाग्य नहीं मानता । पर तो भी हिन्दी हितैषियों की इस उदारता से थोड़ा लाभ उठा लेना चाहता हूँ ।

मनुष्य का हृदय अद्भुत वस्तु है। औसत दर्जे के मनुष्य का हृदय देवता के देवत्व और पशु के पशुत्व, इन दोनों के समान भागों का रासायनिक सम्मिश्रण है। देवत्व वायु की नाईं हलकी, विमल और वायव्य वस्तु है, और पशुत्व मिट्टी की तरह बोझिल, मलिन और मोटी चीज है। मनुष्य के विकास के साथ पशुता छीजती जाती है, और हृदय उत्तरोत्तर हलका होकर ऊपर को उठता है। वैसे ही पशुता की ओर गिरने से, देवत्व उड़ता जाता है, और हृदय स्वभावतः नीचे को गिर आता है। यों कहा जा सकता है, मानव हृदय देखता ऊपर को है, पर स्थूल है, बोझल है, इससे जाता नीचे को ही है।

ईसाई धर्म का एक पुराण पुरुष है, 'शैतान'। उसका जो चित्र है, मैं उसे बिलकुल मनुष्य के हृदय का चित्र मानता हूं। शैतान फरिश्ता है, देवता है। परमात्मा के शाप से, या कहिये, अपने अहङ्कार के शाप से, उसे धरती पर आ रहना पड़ा। वह अपने स्थान को, देवस्थान को; जाने को तरस रहा है। पर केवल एक शर्त पर वह वहाँ पहुंच सकता है। और वह यह कि दुनिया के सब जीव परमात्मा के पास पहुँचें, और उसके छुटकारे की विनती करें। पर साथ ही यह भी शर्त है, और यह ही शाप है, कि वह सदा जीवों को परमात्मा के विरोध में वरगलायेगा। वह प्राणियों को मोहता है, परमात्मा के खिलाफ खींचता है; पर ओह! भीतर से कितनी उत्कटता के साथ, कितनी उत्कण्ठा, कैसे कड़वे आँसुओं के साथ, वह कामना करता है, लोग न खिंचें। लोग खिंचते हैं, वह खींचता है, और ओह, वह अपने अधिकार से दूर, दूर जा पड़ता है!

ठीक यही कारुणिक दशा हृदय की है।

मेरा मन उस समय इन दोनों ही बातों में उलझ रहा था। मैं उस समय स्वीकार नहीं करता था। पर बात सच है। एक अज्ञात उद्वेग, फरिश्ते की नैसर्गिकता, हृदय द्वारा मुझे एक ओर जाने का निर्देश कर रहा था, और फरिश्ते के शाप का आकर्षण, पशुता का

खिंचाव बरबस मुझे दूसरी ओर ले जाने को था, मैं इस पशुता के आकर्षण को नहीं मानता था। पर मैं अब देखता हूँ, मैं धोखे में था। यह आकर्षण सूक्ष्म था, और जितना ही सूक्ष्म था, उतना ही प्रबल और घातक था।

अब इस हृदय के द्विविध खिंचाव के बीच में एक और चीज थी, और वह था मस्तिष्क, मेरी बुद्धि।

मस्तिष्क एक शक्ति है। बुद्धि विशुद्ध विज्ञान के समान है। इस शक्ति को, इस विज्ञान को, किस कार्य में, किस समस्या में उपयोग लेंगे, यह आपकी इच्छा के ऊपर है। उसे उसके अनुरूप धारण करना होगा। कार्य उद्देश्य रहेगा और वह साधन रहेगा। पर प्रबल वैज्ञानिक के लिए विज्ञान एक स्वतन्त्र उद्देश्य बन जाता है, वह स्वतन्त्र चीज हो जाती है, और समस्या के काबू में रहना नहीं चाहती। शक्ति भी अधिक प्रबल होने पर कार्य पर हावी हो जाती है, और वह खुद कार्य हो जाती है।

यही मस्तिष्क का हाल है। यह चित्त के अनुरूप कार्य करता है। साधारणतः यह चित्त के समतल पर रहता है। वही मस्तिष्क हृदय की घृणित से घृणित कोटि पर उसका साथ देता पाया जायगा, और वह ऊँची से ऊँची उड़ान में, हृदय के साथ रह सकेगा। पर मस्तिष्क की एक वह भी अवस्था है, जहाँ यह प्राधान्य पकड़ लेता है। वहाँ वह खुद समस्या को पकड़ता है, और अपने कानून बनाकर उन्हें चित्त से मनवाने की हौंस रखता है। वह फिर चित्त का अनुशासन सहज नहीं स्वीकार करता, और चित्त के ज्यादे जोर देने पर बगावत कर उठता है। जिन्हें 'जीनियस' कहा जाता है, वे इसी तरह के लोग होते हैं। उनके मस्तिष्क और हृदय एक दूसरे के प्रति बड़ी जल्दी बगावत करने को उद्यत रहते हैं।

मेरा यही हाल था। मैंने अपने दिमाग को कानून बनाने, हुक्म देने, और निर्णय करने का अधिकारी बना रक्खा था। पर स्पष्ट है, अधिकार

जबर्दस्ती का, आर्बिट्रेरो था, विधायक सत्ता-Executive powcr उसके हाथ में कुछ न थी। मैंने अपना एक सिद्धान्त, और उसके अनु-रूप कुछ नियम बना रखे थे। सिद्धान्त क्या था, मैं कह आया हूं। सिद्धान्त यही था—मेरी सत्ता एक छत्र सत्ता है, किसी का प्रवेश उसमें न हो सकेगा!

जब चित्त में स्वतन्त्र उद्वेग उठने लगा और मस्तिष्क सिद्धान्त के विरोध में उत्कटता पाने लगा—तो मस्तिष्क में खलबली मची। उसका राज्य जारहा था! यही क्यों, उसे गुलाम बनाने की तैयारी हो रही थी। मस्तिष्क ने बड़ी तीव्रता से चित्त की खींचतान में भाग लिया। मस्तिष्क की तर्कणा का ढंग यह था:—

१. तुम तुम हो। तुम धरिणी नहीं हो सकते। तुम्हारा अलग अस्तित्व है। उससे अपनापन महसूस करना मिथ्या है। यह माया है। तुम उसके बीच में पड़ते हो, माया में फँसते हो। उदारता जब झूँठ है; तब उदारता के पाश में फ़ँसना मानसिक दुर्बलता है।

२. क्यों धरिणी को मदद करोगे? हानि के सिवा तुम्हारा इसमें लाभ क्या है? आते सुख को अपनी कमजोरी में स्वाहा करना बुद्धि-मानी नहीं है।

३. जिन्दगी का हाल मैंने तुम्हें क्या बतलाया है—इसे क्या भूल जाओगे? सारी शिक्षा बहा डालोगे? तुम्हें अपने सिद्धान्त पर, अपने व्यक्तित्व पर दृढ़ रहना होगा।

४. तुम आखिर धरिणी का कर क्या सकते हो? उसे सुखी बना सकते हो? यह असम्भव है। किस आपदा को तुम रोक सकते हो? तुम क्या करना चाहते हो? कुछ जानते भी हो?

५. क्या आशंका है? क्या धरिणी मरेगी? क्या यही? तुम क्या इसे रोक सकोगे? उसे मरना ही है, तो आज नहीं, कल मर जायगी, जब मौक़ा पायगी तब मर जायगी। तुम रोक न सकोगे।

६. क्या धरिणी ने कुकर्म नहीं किया? क्या हर्ज है, यदि वह

प्रायश्चित ले तो ? तुम प्रायश्चित में बाधक होगे ?

७. मरना उसका दंड भी तो समझा जा सकता है। तुम्हें क्या अधिकार है, उसका दंड बचाने का ?

८. विधाता और समाज का अधिकार अपने हाथ में लेकर, बीच में आकर अपने ऊपर कुछ जिम्मा लेनेवाले तुम कौन होते हो ?

अन्त में कुछ धमकियाँ दी थीं; कुछ उपहास भी। ये कहीं ज्यादा चुभते हुए थे। चित्त का एक विभाग लगभग इन्हीं बातों को, एक-दो-तीन करके नहीं, वरन् इन सब का एक सुन्दर चित्र बनाकर और उसके एक कोने में शशि का लालसा से उन्मुख चेहरा प्रस्तुत कर, अपने पक्ष की विजय चाह रहा था। ये दोनों एक दूसरे की मदद में थे। इनका पक्ष बहुत प्रबल था।

दूसरे पक्ष में एक धीमी, हलकी सी, आवाज न जाने किस कोने से उठकर कह रही थी, "तुम जानते हो, तुम अपने को धोखा दे रहे हो। तुम इस चित्र के भुलावे में आकर मस्तिष्क का साथ दे सकते हो तो दो। पर जान रखो, तुम वह नहीं हो।"

मैं जानता हूँ, यह आवाज तब मुझे प्रबल नहीं लगी थी, पर बड़ी हृदय-द्रावक थी। हाँ, अब मैं कह सकता हूं, वह बड़ी प्रबल थी। उसका धीमापन इसका प्रमाण है।

यह हृदय-द्रावकता बुरी लगी, और मैंने तै करना चाहा कि मैं मस्तिष्क की-ही बात मानूँगा। विरोध में जरा—बस जरा-सा जवाब मिला—"देखो, अगर मान सको तो।"

मैं खिसियाकर उठ खड़ा हुआ। मुझे सर्दी-सी लगी, और मैंने अन्दाज किया बारह बज चुके होंगे। मैं चल दिया—आशा थी, मैं सीधा घर जाऊँगा और निश्चिन्त सोऊँगा।

७

●●●

मैं चला, और सीधे घर की ओर चला। यह समझते रहने और अपने को समझाते रहने के बावजूद कि मैं निश्चय पर पहुँच चुका हूं—मैं निश्चय से कोसों दूर था। मुझे एक बात का उछाह था। घर में ब्याह की शहनाइयाँ बज रहीं होंगी, और मैं खुशियों के शोर में मिल कर सहारा पा सकूँगा और चिन्ता भुला दूँगा।

घर के निकट पहुंचा ही था कि गीत की आवाज कानों में पड़ी। सोते कानों में जैसे गड़गड़ाहट पड़े तो कोई चौंकता है, वैसे ही मैं चौंका। वह आवाज मुझे बड़ी खली। मैं उल्टा मुड़ लिया।

यकायक जब मैं धरिणी के मकान के आगे ठहर पड़ा, तब मुझे ज्ञात हुआ। मैंने मुड़कर इसी ओर की राह ली थी। मैं भीतर जाना चाहता था, और नहीं भी जाना चाहता था। कुछ ही दूर चला हूंगा कि सहसा ही फिर घूम कर वापिस आ गया। धरिणी के घर के आगे आकर खड़ा हो गया, पर घर में घुसने का साहस नहीं हुआ—हाँ, साहस नहीं हुआ। मैं अनमना सा होकर गंगा की तरफ हो लिया।

यह सब कुछ क्यों हुआ? मैं क्यों लौटा, और फिर क्यों पलटा, और कैसे गंगा की ओर को मुड़ पड़ा—मेरे पास इसका जवाब नहीं। मुझसे जवाब की आशा की भी नहीं जानी चाहिये। जो कुछ भी मैंने किया, मैं नहीं, कोई और ही उसके लिए ज़िम्मेदार है। वह 'कोई और' कोई है, या वह केवल संयोग है, या सचमुच कुछ है, या कुछ भी नहीं है—इसका समाधान कौन करेगा? अगर केवल घट

नाओं को ही समाधान करने दिया जाय, तो कहना होगा वह 'कुछ और' है जरूर। वह भाग्य है, अदृष्ट विधान है, परमात्मा है; या कर्म-विपाक है, या भविष्यत् का अनुष्ठान है—इससे हमारा सम्बन्ध नहीं।

मैं कुछ ही दूर चला हूँगा, कि बगल की सड़क से एक मूर्ति सहज चाल से आती दिखाई दी थी। उसमें कुछ नवीनता नहीं थी। वह रमणी की मूर्ति थी, और साधारण वस्त्र पहिने थी। वह धरिणी थी।

शहर मुर्दा नींद में था। लालटैन कहीं-कहीं धुँधला रही थीं। रात का तीसरा पहर होगा। चौकीदारों की आवाज की गूँज दूर से आती सुन पड़ती थी। कुत्ते जहाँ तहाँ भौंक रहे थे।

ऐसे समय स्त्री का घर से बाहर निकलना आपदा से बाहर नहीं है—इसी से असाधारण है। पर दूर से धरिणी को पहचान कर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। मुझे लगा, जैसे यह कोई होनी ही सी बात थी।

मैं ठहर गया, और धरिणी को पास आने दिया। जब मैंने उसे देख पाया, मुझे बड़ा अचरज हुआ। उसकी सब बात बिल्कुल स्वाभाविक जँचती थी। और मैं न जाने क्या आशा किये हुए था!

मुझे अपने आश्चर्य की व्याख्या करने का समय नहीं मिला। उसने कहा—"नवीन!" लगभग साथ ही मेरे मुँह से निकला—"धरिणी?"

कई सेकिंड तक एक-दूसरे को ताकने के सिवा कुछ सूझा ही नहीं। पहले वह बोली—

"नवीन मैं तुम्हारे यहाँ जा रही थी। सौभाग्य, मेरा इतना रास्ता बच गया।"

"मेरे यहाँ? क्यों? मेरे यहाँ ऐसा क्या काम आ निकला?"

"तुम्हारी चिट्ठी मुझे मिल गई। भाग्य से ही मिली। उसने तुमसे मिलना जरूरी बना दिया था।"

"तुम देखती हो, मैं क्या कर सकता हूँ ?····मेरी ओर से तुम्हें क्या आशा है ? आशा क्या है ही ?"

"नहीं, मुझे आशा नहीं है ।········"

"फिर ?"

"मैं तुम्हें चिट्ठी वापस करने आई हूं। तुम्हारी शर्म मैं नहीं चाहती।"

"शर्म ! उस चिट्ठी में शर्म की क्या बात है ?"

"हाँ यही मैं चाहती हूँ कि शर्म की कोई बात नहीं है ।··"

"फिर····?"

"मैंने कहा, शायद तुम—तुम कुछ ऐसी बात सोच रहे हो ?"

"मैं ? मैं क्यों सोचूँगा ऐसी बात ?"

वह हँसी। कैसी बेवूफ हँसी थी वह ? मानो वह हँसी आप ही आप कह रही थी—"दूसरे की मौत चाहने में शर्म की क्या बात है ?"

मेरी सारी इकट्ठी की हुई शक्ति हाथ से निकली जा रही थी। मैंने मुट्ठी भींचकर कहा—"ठीक है, मैं क्यों कुछ सोचने की फिकर में पड़ूँगा। जो हुआ, हुआ और जो होगा, होगा।"

होठों के किनारे पर, उसकी हँसी, अब भी खेल रही थी। बोली—"ठीक तो है। तुम क्यों सोच में पड़ो ?"

मैं चुप रहा। मैं क्या जवाब देता ? मैं जानता था, उसकी सब बात निर्मूल थी। पर मैं दिल में अपनी हार महसूस कर रहा था।

उसने कहा—"तुमने चिट्ठी लिखी क्यों थी ?"

मैं हार मानने की इच्छा नहीं रखता था, और जितनी हार पास आ रही थी, उतनी निराशा पूर्णता से मैं उससे लड़ना चाहता था—"लिखी थी ? बस, इतना काफी है कि लिखी थी।"

"क्या तुम्हें कुछ डर लग रहा था ?"

"कैसा डर ?"

"यही कि मैं शायद कुछ कर बैठूँ ?"

मुझे नहीं मालूम कि मैंने 'हाँ' कहाँ कि 'नहीं' शायद दोनों हा कहे।

वह फिर हँसी सी। उसमें विषाद नहीं था। स्त्री सुलभ शरारतीपन था। उसने कहा—"यही तो। आप जानते थे, मैं कुछ कर डालने पर उतारू हो सकती हूँ। और आपने लिख भेजा 'करो'—मैं निश्चिन्त हूँ।"

यह पूर्ण हार थी, मैंने अनुभव किया। और साथ ही इसके, एक आराम भी अनुभव किया। एक यातना से सनी हुई आवाज में, मेरे मुँह से बस, इतना ही निकला—"धरिणी !"

धरिणी को क्या हुआ ! अनिर्वचनीय शोकमय स्निग्धता से उसने कहा—"मेरे देव, तुम नहीं जानते। मैं जानती हूँ, वह पत्र क्या है। वह मेरी निधि है। तुम्हारी कृपा से वह पूर्ण है। पर मैं क्या उसके योग्य हूँ ?"

मैं मन ही मन गड़ा जा रहा था। यह सब मुझे स्वभावतः व्यंग जँचे। वह कह रही थी—

"देव, मैं उस पत्र में तुम्हारी शुद्ध हृदयता देख सकी। मैं देख सकी, मेरी असहायता के प्रति तुम किसी दुर्निवार्य आकर्षण से खिंच रहे हो। खिंचना तुम्हारे स्वभाव के प्रतिकूल है, इसी से तुमने खोझकर वह पत्र लिखा। पर वह आकर्षण कितना तीव्र है, कितना प्रचण्ड है—तुम्हारे एक एक शब्द से यह टपकता है ! मैंने देखा, तुम मेरी रक्षा की चिंता किये बगैर रह न सकोगे। पर मैं रक्षा, और तुम्हारी रक्षा नहीं चाहती। इसी से मैं तुम्हारे पास आई। मुझे जाने दो, नष्ट हो जाने दो। मैं अभागिनी हूँ।"

मैं इन सब शब्दों का मतलब नहीं समझ सका। ये सच्चे उद्गार हैं, इसमें तो संशय का स्थान था ही नहीं। पर मैं उन्हें क्या समझता ? उसने फिर कहना प्रारम्भ किया—

"ओ मेरे देव, तुम पूरे देवता हो। तुम अपने को कभी अच्छा स्वीकार नहीं करोगे। और मैं तुम्हें सिवाय देवता के और कुछ स्वीकार नहीं करूँगी। अच्छा बताओ, तुम मेरे घर से नहीं आ रहे हो ?"

मैं क्या कहता ? यह भी कुछ श्रेय की बात थी ?

वह आनन्द से लहलहा उठी। "ओह मैं जानती थी, जानती···"

यह जबर्दस्ती की नेकी मुझे भारी लगी। मैंने कहा—मैं भीतर नहीं गया। मैंने तुम्हें पूछा भी नहीं।"

वह तो और भी आह्लाद मग्न होगई।—"यही तो, यही तो। तुम पूछते, भीतर जाते तो मैं तुम्हें कहां पाती ?····तुम नहीं देखते, इसके पीछे कौन है ?"

मैंने पूछा—"कौन है, धरी ?"

"भगवान् !"

मैंने कहा—"भगवान् में विश्वास होते हुए तुम्हें अपने लिए कुछ भयावह निर्णय करने की क्यों सूझी, धरी ?"

धरिणी ने कहा—"भगवान् पापी का साथ क्यों देंगे ? हाँ, भगवान् इसे नहीं सह सकते कि तुम जैसा देवता अपने को कुछ का कुछ समझने लग जाय।"

वह चिट्ठी लिखने वाला भी देवता हो सकता है! कैसा दुष्कर उपहास !!

मैंने पूछा—"वह मेरी चिट्ठी कहाँ है ?"

उसने चिट्ठी निकाली लौर कुछ कहना चाहती ही थी कि मैंने उसके हाथ से चिट्ठी छीन कर टुकड़े-टुकड़े कर डाली।

कुछ क्षण वह भौंचक सी देखती रही, फिर झुकी और और उन टुकड़ों को सँभाल के, एक साथ इकट्ठा करके जेब में रखते हुए बोली—"देव, क्या तुम विश्वास तहीं करते, तुम्हारा पत्र उसके पास है, जिसे उसके एक एक शब्द से एक देवता की याद आती है। क्या तुम सच

नहीं मानते कि मेरे लिए उस पत्र के एक एक शब्द में देवत्व, सच्चा देवत्व भरा हुआ है ?"

मैंने कहा—"मैं देखता हूँ, चिट्ठी को मैं खत्म नहीं कर सकता। ठीक ही है, उसकी याद मेरे लिए अच्छी ही चीज होगी।"

धरिणी चुप रही। उसने शायद देखा, मेरा अपने इरादे से टलना सम्भव नहीं।

मैंने पूछा—"अब तुम कहाँ जाओगी?"

सौम्य गम्भीरता से उसने निवेदन किया—"मुझे नींद की आवश्यकता है। मैं अब सोने जाऊँगी।"

मैंने कहा—"ठीक है। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।"

उसने साश्चर्य कहा—"तुम चलोगे? मेरे साथ?" यहाँ विषाद ने उसे आ घेरा—"तुम कहाँ तक मेरे साथ चल सकोगे?"

मैंने कहा—"तुम्हारे घर के दर्वाजे तक।"

हृदयवेधी व्यंग की हँसी हँस कर बोली—"मैं घर नहीं जा रही हूँ।"

मैं न समझा,—अपेक्षा से उसकी ओर देखता रहा।

उसने कहा—"मैं गंगा में सोने जा रही हूँ।"

मुझ पर सचमुच वज्र पड़ा!—"नहीं, धरी! तुम यह न करोगी। तुम पागल हो। चलो घर चलो। पहुंचा आऊँ।"

धरि०—"यही भीख माँगने तो मैं तुम्हारे पास आई थी। तुम मुझे डिगाओगे नहीं।"

मैं—"पर सच, तुम मरना नहीं चाहती। तुम मरोगी नहीं।"

धरि०—"मरूँगी नहीं, तो क्या करूँगी?"

मैं क्या कहता, पर तो भी कुछ तो कहना ही था।—"पर निस्सन्देह, तुम मरना नहीं चाहतीं?"

धरिणी—"मरना नहीं चाहती, तभी तो मरना होगा। मरना नहीं चाहती, पर जीना तो और भी नहीं चाहती।—इसी से मरना होगा।"

मैं इसे कोरा पागलपन समझा।

धरिणी—"मैं मरना चाहती, तो कभी न मर सकती। क्योंकि तब मैं मरने से न डरती। अब मैं मरने से डरती हूँ। और डर मुझे उधर खींचे लिए जा रहा है। तुम क्या यह नहीं समझते? पर मैं तो इसे प्रत्यक्ष देख रही हूँ। मृत्यु से मैं डरती हूँ, और उसकी धारणा से अभिभूत हो चुकी हूँ। तभी तो उसमें झुकी जा रही हूँ।"

मैंने कहा—"मैं तुम्हारी इन बातों को बिल्कुल नहीं समझा। साफ यह पागलपन है। पर मैं देखता हूं—मरने पर तुम तुल पड़ी हो। पर मरना बुरा हैं।"

धरिणी—"मैं कब कहती हूं—वह अच्छा है। पर तुम मुझे क्या कहते हो? क्या करूँ? तुम जानते हो, जो तुम कहोगे—वह मुझे मानना ही होगा।"

मैं सोच में पड़ गया। "मैं कुछ नहीं कहता—मैं तुम्हारे झमेलों में न पड़ने का निश्चय कर चुका हूँ।"

धरिणी—"वह निश्चय तो अब तक भी तुम्हारे पास नहीं फटका।"

मैं—"ख़ैर, तुम मरोगी नहीं, आत्मघात पाप है।"

धरिणी—"पाप पुण्य मैं नहीं जानती। शायद तुम भी उन्हें नहीं मानते! मैं मरूँगी। हाँ, तुम रोकोगे, तो रोक सकोगे।"

मैंने देख लिया कि अपने को बीच में डाल कर मुझे रोकना ही होगा। पर मैंने कहा—"मैं क्यों रोकूँगा।"

धरिणी—"यही मेरी विनय है, मत रोकना।"

वह चलने लगी। मैंने कहा—"ख़त के टुकड़े क्या मेरी शर्म कायम रखने के लिये साथ रख छोड़े हैं? क्या उन्हें मुझे न दे सकोगी?"

उसने कहा—"उनकी शर्म को अपने साथ गंगा में डुबो दूँगी। और उनकी पूजा को स्वर्ग-नर्क जहाँ पहुँचूँगी, ले जाऊँगी। वह मेरे

लिए आत्मा की निधि हैं। उन्हें मुझसे पृथक् क्यों करवाते हो ?"

मैं चुप रहा, और उसके साथ हो लिया। आश्चर्य ! इस सारे समय में हमें किसी उपद्रव का सामना न करना पड़ा।

वह मेरे साथ न रही। आगे निकल गई। उसे सन्देह था, मैं उसे सकुशल न मरने दूँगा। पर क्यों उसे सन्देह था ? मैं नीच से नीच पशु हूँ। स्वार्थ का कीड़ा हूँ। मैं पीछे रह गया और सचमुच मैंने समझ लिया, मेरा पीछे रहना मुझे पता भी न चला। वह तीस-पैंतीस गज आगे निकल गई।

वह गई—और धड़ाम से गंगा में कूद पड़ी। मैं दौड़ा दौड़ा गया किनारे पर। ठिठका—और ठिठका रह गया। ठिठका रह गया !! कैसा बढ़िया सिद्धान्त, और कैसी सुन्दर पशुता !!

मैं सिर धुन कर वहीं बैठ गया। आँसू नहीं आये। आँसू पुण्य की पहिचान हैं। मैंने जान लिया—मैं पापात्मा हूँ।

वह बह गई थी। मैं बैठ गया था। मैं उसका देवता था और वह संसार की पापिष्ठा थी। वाह !

क्या मैं निर्लज्ज होकर सफाई के तौर पर पाठक से कहूँ कि मैं नहीं जानता था ?

८

●●●

धरिणी ?

नदी में जैसे पानी, कहीं अकस्मात् गहरा गड्ढा पाकर आवर्त बनकर चकराने लगता है, वैसे ही, मेरी चेतनता एक गहरे छिद्र पर खड़ी होकर जोर जोर से आवर्त खाने लगी। समग्र चेतना-सूत्र टूट-

टूटकर उसमें आ पड़े, और विवश चक्कर काटने लगे। भीतर एक विप्लव हो रहा था। सब अस्पष्ट था। बस एक चीज स्पष्ट थी—शून्यता ! और शून्य में एक व्याकुल प्रश्न फैला हुआ था—"धरिणी ?"

भीतर तुमुल क्रान्ति मची थी। बाहर निश्चेष्ट स्थिरता थी। मैं वहीं का वहीं निर्जीव सा बैठा था। शरीर सुन्न था। आँखें देखती थीं। कान सुन रहे थे। पर, वह जो देख सुन रहे थे—वह वास्तव था ?···

मेरे सामने ही लाल पगड़ी बाँधे—एक सिपाही आ खड़ा हुआ। उसके हाथों में हथकड़ी चमक रही थी। उसने कहा—"अभी एक औरत गिरी है, तुमने उसे गेरा है।·······चलो।"

हथकड़ी थामे हुए दो हाथ मेरी ओर बढ़ आये। मै सहमा नहीं, हिचका नहीं। मैं खड़ा हुआ और हाथ बढ़ा दिये।

हाथ बढ़े के बढ़े रह गये। एक मिनट तक मैं आशा में खड़ा रहा। हथकड़ियाँ न पड़ीं। सिपाही अन्तर्द्धान हो गया। आशा टूटी। मैं वहीं का वहीं ढह पड़ा।

× × × ×

कई दिन बीत गये। मेरा विवाह हो गया। सुख की शराब में गोते खाने लगा। एक दिन शशि को साथ लेकर घूमने निकला। गंगा के किनारे आया। वह ईश्वर की आव्यावाधिता की तरह आगे बढ़ी चली जाती थी। काल जैसी निर्मम निर्लिप्ता के साथ, किसी को जीवन और किसी को मृत्यु देकर चुपचाप सरक जाता है, फिर भी सामने रहना है, साथ रहता है,—वैसे ही गंगा न जाने कब से आँखों के आगे से सरकी चली जा रही है। शशि से बड़े रस की बातें हो रही थीं। हम बचपन में, उस दिन, उस समय, और उस जगह साथ रोये थे। और फिर वहाँ साथ हंसे थे, सब की हम मिल कर शुमार कर रहे थे। हमारी प्रसन्नता का वितान आकाश की तरह फैला था। हल्के नील

से रंगा हुआ था—कहीं जरा भी बादल का धब्बा नहीं था।

इसी नीलिमामय शुभ्रता में भाग्य की कालिमा की छींट का दाग सा यह कहाँ से आ पड़ा? और बढ़ते बढ़ते उसमें से उठ पड़ी धरिणी—जो सारे आकाश को अपनी ओट में लेकर सामने आ खड़ी हो गई, वह मेरे से चिपट गई। कहने लगी—"मेरे देवता···"

मैंने झटका देकर पैर छुड़ाया। और पैर से ही उसे गङ्गा से धकेल दिया। गिरने की आवाज हुई, और मैं कहकहा लगा कर हँस पड़ा। जब चलने को हुआ, तो शशि वहाँ नहीं थी।

देखा, सचमुच शशि वहाँ नहीं थी। उसका कहीं निशान पता भी नहीं था।

❀ ❀ ❀ ❀

लायब्रेरी में मैं अपनी कुर्सी पर बैठा था। एक सज्जन आये। सिर से पैर तक खद्दर पहने थे।

मालूम नहीं, मैंने अभिवादन किया, या नही। कुर्सी खींच लेने और उस पर बैठने में उन्हें समय नहीं लगा। मैं अजीब 'मूड' में था। पूछा—"कहो भाई! कैसे आये?"

स०—"आप फ़िलासफर हैं न? मैं भी फ़िलासफ़र होना चाहता हूँ। शायद आपसे मुझे या मुझसे आपको सहायता मिले—इसी से चला आया।"

मैं—"आप तो खद्दर पहिनते हैं। क्या यह भी आपकी फ़िलासफी का ही अंश है?"

स०—"महाशय खद्दर के साथ फ़िलासफी का नाम जोड़ना—उसका अपमान करना है। खद्दर जुलाहे बुनते हैं, फ़िलासफी बुनना योगियों का आदर्श है। मेरे खद्दर पहनने का कारण विशुद्ध भौतिक है। समाज-संसर्ग मनुष्य की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को सहज और लाभप्रद बनाना व्यक्ति अपना धर्म मानता है। मैं समझता हूं—खद्दर इसका उत्तम साधन है।"

मैं—"मैं समझा। ठीक। पर आपके पधारने का प्रधान कारण क्या है ?"

स०—"मैंने जाना कि आपने एक जीवन सिद्धान्त बनाया हुआ है। मैं आपको उस पर बधाई देने आया हूं। धारणा चाहे कुत्सित ही हो, पर रहना चाहिये उस पर दृढ़। यह दृढ़ता ही एक व्यक्तित्व का लक्षण है, और व्यक्तित्व की पुष्टता ही उच्चता है।"

ये तो मेरे ही शब्द हैं—मेरे ही भाव हैं। पर उनको यह बीभत्स रूप क्यों दिया जा रहा है ? मैंने कहा—"कुत्सित धारणा पर अवलम्बित व्यक्तित्व ऊँचा कैसे हो सकता है ?"

स०—"धारणाओं के सम्बन्ध में बुरे या भले, कुत्सित या पावन शब्दों का उपयोग अपेक्षा से होता है। उसमें जन-बाहुल्य के विश्वासों का बहुत प्रभाव पड़ता है। चूंकि वह विश्वास फिर अंत में धारणाओं पर ही बनते हैं, और अपेक्षा अनिवार्यतः अनिश्चित वस्तु हैं, इससे वे विशेषण भी अनिश्चित हैं। वे हमारे ही बनाये हुए हैं और हम उन्हें दिन रात बदलते रहते हैं। कुत्सित को निर्धारित रूप में कुत्सित मान लेना, बुद्धि की सीमा बाँध देना है।"

मैं इसी मार्ग से अपने सिद्धान्त पर पहुँचा था। पर शब्दों का यह खुलापन मुझे भीषण जँचा। मैंने कहा—"कुत्सित, कुत्सित नहीं है, बुरा बुरा नहीं है, तो फिर क्या है ? क्या वह अच्छा है, शुभ है ?"

स०—"हाँ, बुरा, सदा बुरा नहीं। जो आज बुरा है, कल अच्छा हो सकता है। पर रहना चाहिये दृढ़। प्रतिभा की पहिचान यह है कि जो बुरा, कल अच्छा कहा जाने वाला है, उसे वह आज ही अच्छा समझने लग जाय। महत्ता की पहिचान यह है कि उस पर कायम रहा जाय। इतिहास के नायकों को देखो—यही पाओगे।"

मैंने कहा—"ये सब बातें मेरी उधार ली हुई हैं। मैं इन्हें नहीं सुनना चाहता। ऐसा सस्ता तत्व ज्ञान मुझे नहीं चाहिये। पर बताओ, पाप पुण्य क्या कुछ नहीं हैं ?"

स०—"सचमुच, पाप-पुण्य कुछ नहीं है। क्या कुछ कहते हो कि वह कुछ हैं?"

मैं—"नहीं होते, तो ये शब्द कहाँ से आये?"

स०—"शब्द गढ़ना मनुष्य का व्यवसाय है। चूँकि शब्द बनते हैं—इसलिए, उनके लिए कुछ न कुछ उपयोग भी निकालना ही पड़ता है। लाभ के लोभ में घुटनों को सजाने के लिए एक जौहरी ने आभूषण तैयार किया। आभूषण है तो पहना ही जाना चाहिये। एक स्त्री ने उसे पहना और फिर तो रिवाज चल पड़ा। अब यह कहना कि आभूषण के बिना घुटने सत्ता में रह ही नहीं सकते, कहाँ कि बुद्धिमता है? इसी तरह पाप-पुण्य के शब्द हैं, उनका उपयोग भी सब आवश्यक मानने लग गये हैं। इसके बिना सब कुछ ही असम्भव है, यह मानना कहाँ का न्याय है? हाँ इतना जरूर है कि जैसे आभूषण बिना स्त्रियों का जीवन नहीं चल सकता, वैसे ही इन पुण्य-पापों के बिना दुनियाँ का जीवन नहीं चल सकता।....."

"यह सब कुछ मैं अपने लेखों में लिख चुका हूँ, पर जरा विशिष्ट भाषा में, आपने ये सब बातें उड़ा-उड़ाकर इकट्ठा कर ली हैं। ये सब मेरी ही बातें हैं। पर मैं आपको नहीं जानता। आपने यह कैसे....।... मैं आपकी कोई बात नहीं सुनना चाहता। आप बतलाइये, आप हैं—कौन?"

पूरे दाँत निकालकर वह हँसा। बोला—"मैं कौन हूँ? मैंने बतलाया तो, मैं कोई भी नहीं हूँ। मैं शुद्ध फिलासफर बनना चाहता था।"

मैं—"जो चाहे, आप बनिये। पर यहाँ आप क्यों आये?"

स०—"मै क्यों आया? आपने मुझे याद किया था, ओह, नहीं, हाँ—आपको मेरी आवश्यकता थी—इससे आया।"

मैं—"मुझे तुम्हारी आवश्यकता थी? कभी नहीं। मैं तुम्हें जानता भी नहीं, पर तुम मुझे जानते हो! तुम कौन हो?"

वह हँसा, बुरी तरह हँसा। उसकी हँसी में कहीं जहर तो बिखरा हुआ नहीं था !

मैंने कहा—"ओह ! तुम शैतान हो ?"

स०—"शैतान हूँ भी तो क्या ? फिलासफर तो हूं।"

मैं—"तुम्हारा सिर। जाओ, अभी जाओ। निकल जाओ यहाँ से अभी !"

स०—"मारोगे ?"

सहसा मैं पूछ बैठा—"मरने से डरते हो ?"

स०—"मरने से मैं नहीं डरता। क्योंकि मैं फिलाँफर हूँ; मैं नहीं मर सकता। हाँ, पर मारे जाने से डरता हूँ,....तुम्हारी खातिर।"

मैं—"मेरी खातिर ?"

स०—"हाँ, तुम मारोगे, तो शायद मुझे डर है, तुम मुझे खो बैठोगे। मैं तुम्हें खोना नहीं चाहता।"

मैं—"मैं कहता हूँ, तुम्हारा यहाँ काम नहीं। अभी निकल जाओ।"

स०—"निकालने को तुम पाप गिनते हो, या पुण्य ?"

मैंने मेज पर से पेपरवेट उठाकर जोर से उसे ताक के मारा। वह उसे लगा—पर रुका नहीं, उसके शरीर से आर-पार होकर सामने की दीवार से टकराकर गिर पड़ा।

वह गम्भीर हँसी हँस रहा था—"मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? मुझे तुम क्यों मारोगे ? मैं तुम से बहुत कुछ कहने आया था। बड़े ऊँचे तत्व ज्ञान की बातें मैं तुम्हें सुनाना चाहता हूँ। पर तुम मुझे मारते हो। यह क्या........?"

मैं—"मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। मै जानता हूँ, तुम कौन हो ? तुम मेरी ही प्रति-मूर्ति हो, मेरी ही छाया हो, और कोई नहीं। मैं व्यर्थ डर गया। पर तुम खद्दर क्यों पहने हो ? मैं तो नहीं पहनता।"

स०—"मैं तुम्हारी छाया हूँ ? यही सही, यह भी ठीक है।

अच्छा है, तुम पहचानते हो और डरते नहीं। खद्दर से तुम क्यों घबराते हो?"

मैं—नहीं, तुम कुछ और हो! तुम शैतान हो!......जाते हो या नहीं।"

वह सहानुभूति जताते हुए बोला—"मेरी जाने की इच्छा नहीं है।"

मैं हतबुद्धि होकर उठा, और उसे धक्का देकर निकाल बाहर करने के इरादे से आवेश में उसकी ओर बढ़ा। ज्यों ज्यों मै बढ़ता, वह पीछे हटता जाता। अन्त में वह दीवार से जा सटा। मैं उसे वहीं दबा देने के खयाल से जो बढ़ा कि दीवार से जा टकराया।

सचमुच टक्कर लगी, और मुझे चेत हुआ।

× × × ×

मैं घाट की सीढ़ियों पर बैठा, सिर हाथों से दाब रहा था। पसीने की बूँदें अब भी माथे पर खड़ी थीं। मैं हाँफ रहा था। अभी मेरा सिर सीढ़ी के पत्थर से टकराया था। क्यों?—सो कौन जान सकता है?

सबेरा होने आया। गंगा-भक्त स्त्रियों का आना प्रारम्भ हो गया। अभी यहाँ भीड़ हो जायगी। मैं उठा, भीतर का वह सारा विप्लव, वह सारा तूफान मुझे इतना धुनने के बाद एक पदार्थ छोड़ गया था। वह पदार्थ एक भार है। पर एक बार जब मिल जाय, तब उस भार से मुक्ति नहीं। वह भार था आत्मा पर। उस भार से इस विषम यातना के बीच में भी मुझे एक हरी शान्ति-सी उपलब्ध हुई। हरी, हां नये-नये हरे कोंपल पत्तों से धुली हुई हवा में जो सुखदा हरियाली रहती है, वही उसमें थी।

मैं उठा। गंगा बही चली जा रही थी। उसकी हल्की लहरें विषाद की रेखाएँ थीं, या कुटिल आनन्द की हिलोर? मैंने मानो पूछना चाहा—"तैंने उसे सुखमय थपेड़ों से सुहलाकर कहीं सुरक्षित कोने पर जा धरा है, या अपने कराल गर्भ में विनष्ट हो जाने दिया है?

तैने क्या किया है ?"

माता जाह्नवी ने उत्तर दिया अवश्य, पर इस बल कल रव में से उत्तर को ढूंढ लेना मेरी जैसी मनस्थिति वाले के लिये सम्भव न था।

मैं सीधा घर आया। अपनी डिपुटी कलक्टरी की नियुक्ति को छः महीने टलाने के लिए दरख्वास्त लिखी। शशि को एक पत्र लिखा। किताबों को सम्भाला। चीजें अस्त-व्यस्त पड़ीं थी, उन्हें ठीक ठाक किया। हिसाब देखा, उसे लिखा। रोकड़ सँभाली। दस के तीन नोट, चार छुटे रुपए, और कुछ दाम गिनकर जेब में रक्खे।

सूरज कभी का उग चुका था। घर के लोग भी उठ बैठे थे। चहल पहल शुरू हो गई थी। आज शादी का दिन था।

मैं माता के पास गया। उत्फुल्ल-वदन, वह कामों की देख-भाल कर रही थी। विषाद की छाया तक उसके मुख पर नहीं थी। वह जानती थी, मेरी घण्टों न जाने कहाँ बिता देने की आदत नयी नहीं है। वह यह भी जानती थी, समय पर मैं अवश्य उपस्थित पाया जाऊँगा। वह जरूर यह चाहती थीं, मैं बिल्कुल आंखों-ओझल न होऊँ, पर यह असम्भव था। और इस असम्भवता से उन्होंने सहर्ष समझौता करना स्वीकार कर लिया था। मेरी अनुपस्थिति के लिये वह व्यग्र नही होती थीं। ऐसी बातों की चिन्ता उन्हें बुरी लगती थी। मुझ पर उनका अपार प्रेम था, पर जिसे लाड़ कहते हैं, यानी वह दुलार जो प्यार के औचित्य की सीमा से बढ़ जाता है, मुझे उनसे बचपन में भी नहीं मिला। मैं उन्हें सबसे पहले प्यार करता था, फिर डरता था। बचपन में भी यही था, और अब डिपुटी-कलक्टर होने आया, तब भी। आप आश्चर्य करें तो कर सकते हैं, पर सच यही है। अब भी प्यार के बाद दूसरा डर है। मैं माँ से बहुत डरता हूं।

मैं माँ की बहुत कुछ बातें लिखना चाहता हूं। उनका व्यक्तित्व विलक्षण है। और उनके व्यक्तित्व की विलक्षणताएँ, लोकोत्तराएँ सामने आनी चाहियें। इसकी आवश्यकता है। पर मैं उनसे सदा के लिए

अलग होने जा रहा हूँ, और मुझे समय की जल्दी है। अवकाश मिला तो अवश्य मैं उन्हें पाठकों की सराहना या समालोचना के सामने रखूँगा, अभी तो नहीं।

अभी सात बजे होंगे। मैं बिरले ही सात बजे उठा हूंगा। मुझे इतने सवेरे आते देख उन्हें अचरज हुआ। वह यह भी देख सकी, मैं रात-भर सो नहीं पाया हूँ और यद्यपि बाहर से बिल्कुल स्वस्थ जँचता हूँ, फिर भी भीतर गड़बड़ हो ही रही है।

मैं गया। उनके चरणों में पड़ गया। यह अभूतपूर्व था। चट उन्होंने उठाना चाहा। उनके उठाने से नहीं, मैं अपने आप उठा। उन्होंने सच्ची व्यग्रता से कहा—"पैरों में गिरना! यह तू कब से सीखा, नवीन?"

मैंने कहा—"मुझसे भारी अपराध बन पड़ा है, माँ!"

माँ—"बन पड़ा है? बन पड़ा है तो कुछ डर नहीं। परमात्मा क्षमा कर देगा।...हुआ क्या?"

मैं—"नर हत्या!"

माँ घबड़ायीं नहीं। समझती थीं, मनुष्य घात होना मुझसे सम्भव नहीं है! उन्होंने कहा—"मनुष्य घात होता है। मनुष्य तो मरते ही हैं, उनका मरना पाप नहीं है। उनका मारना भी पाप नहीं है। हरेक कोई चोर को मारता है।"

मैंने कहा—"माँ, स्त्री-घात!"

माँ ने कहा—"यह भी कुछ नहीं। स्त्रियाँ मरती हैं—और मारी जाती हैं।"

मैंने कहा—"माँ, ब्रह्मघात!"

माँ पर बादल टूटा—"तो क्या तैंने निरपराध की हत्या की है?"

मैंने कहा—"हाँ, माँ!"

माँ हत-चेत होगईं। हत्या के पूरे मामले को तो वह समझीं ही

नहीं थीं पर निरपराध पर थोड़ी भी चोट पहुँचाना उनकी आँख में भारी पाप था। उन्होंने कहा—"वह स्त्री थी ? ऐं न ? तू उसे यहां लाया क्यों नहीं ?"

शोकाकुल होते हुए मैंने कहा—"वह मर गई मां ! गंगा जी में डूबकर मर गई। मैंने उसे धकेल दिया था।"

पड़ोस की महाराजिन कुछ गज पर पिट्ठी पीस रही थी। मेरी बुआ उबटन तैयार कर रही थीं। माँ ने झटका देकर महाराजिन को एक तरफ धकिया दिया, पिट्ठी बखेर दी।

महाराजिन बौखलाई सी खड़ी थी। मां ने कहा—"खड़ी खड़ी क्या आंखें फाड़ रही है ! इत्ती पिट्ठी क्या तू खायेगी ? तुझे घर काम नहीं है—जो यहाँ दौड़ी आई पिट्ठी पीसने !"

बुआ के हाथ अभी उबटन से सने ही थे। माँ ने कहा—"क्या उबटन मेरे मलोगी ? और इतना सारा ?"

सब काम बन्द हो गया। यह क्या आफत आई ! माँ से थोड़ा बहुत डर सभी को था। सब उनकी ओर ताकने लगे।

माँ ने कहा—"बन्ने साहब घर छोड़कर जा रहे हैं, और तुम उनके ब्याह की तैयारियाँ कर रही हो ! कोई दाल पीसता है, कोई उबटन बनाता है। कोई यह करता है, कोई वह !—और कुँवर साहब रात रात भर बाहर रहते हैं, और सवेरे आकर कहते हैं—हमने, हमने व......"

आगे उनके मुँह से कुछ निकल ही न सका। वह मेरे पास आईं। बोलीं—"आप यहाँ क्यों आये ? माँ की क्षमा लेने ? या मां को कलंक देने ? मां बड़े से बड़े अपराध को क्षमा कर सकती है। पर कोई क्षमा चाहे, तब तो ? यदि कुछ हुआ ही था, तो क्या आपसे चुप नहीं रहा जाता था ?—मुझसे कहे बिना कौन सा स्वर्ग बिगड़ा जाता था ? आप आते हैं—और कहने के लिये आते हैं ! बड़े साफ दिल हैं ! पर माँ, माँ नहीं है। उसने दिल लोहे का कर लिया है। वह ऐसी बातें सुनने के

लिए तैयार नहीं। आप जाइये। यहां आप की जरूरत नहीं। उसे पाइयेगा, तो आइयेगा। पहिले वही कीजिये। माँ आपकी मरेगी नहीं, जीती रहेगी।"

मैं हिला नहीं—खड़ा रहा।

माँ ने कहा—"क्यों खड़ा है? माँ का आशीर्वाद चाहिये?"

मैंने कहा—"माँ! मैं हत्यारा नहीं हूँ।"

माँ ने सुना। सुनने के बाद देखा। फिर मुझे अपनी गोद में चिपटा लिया। और मैंने जिसे कितने सालों से तज दिया था, उस घोंसले में छिप कर बड़ा सुख पाया।

धीरे धीरे मैंने उन्हें सब बतला दिया। हाँ, सुन्दरलाल, धरिणी के पिता आदि की बात नहीं कही।

माता ने माना—मुझसे अपराध हुआ, पर वह बहुत सूक्ष्म। उनका कहना था, वह अपराध भी अपराध तभी है, जब मैं, मैं हूं—साधारण से ऊँचा हूँ। सधारण आदमी के निकट यह अपराध नहीं है, क्योंकि वह स्वयं इतने से को अपराध नहीं मानता।

माता की पहले से भी ज्यादे प्रफुल्लता लौट आई। काम ज्यों का त्यों शुरू हो गया।

मुझे साहस हुआ। मैंने निवेदन किया—"माँ, मैं तुम से विदा लेने के लिये आया था।"

माँ—"तू जायगा, क्यों जायगा, कहाँ जायगा?"

मैं—"माँ, इतने बड़े भार को लेकर घर में कैसे रह सकूँगा? जाना तो होगा ही। कहाँ जाऊँगा—सो क्या जानूँ?"

माँ—"तेरी जिद का मुकाबला कर, मैंने कभी कोई परिणाम नहीं पाया। दीखता है, तू जाए बिना न मानेगा। पर मैं कहती हूं, तू क्यों अपने आपको तंग कर रहा है! अगर कुछ अपराध बन भी पड़ा है, तो उसका प्रायश्चित्त यहाँ भी हो ही सकता है।"

मैं—"माँ, कुछ घण्टे पहले मैं 'आत्मा' को नहीं मानता था। वह

मुझे ऐसी तंग भी नहीं करती थी। अब आत्मा को मानने लगा हूँ—तो वह मुझे चैन नहीं लेने देती। आत्मा का हुक्म है—जाना ही होगा।"

माँ—"जायगा, तो जा। मैं और क्या कहूँ ? पर आयगा कब ?"

मैं—"धरिणी को पाये बिना तो आ नहीं सकूँगा।"

माँ—"तुझे क्या उम्मीद है तू उसे पा सकेगा ?"

मैं—"उम्मीद तो है ही। माँ मुझे लगता है, वह मरी नहीं। वह बहुत ही शुद्ध भाव स्त्री है। संसार के अत्याचार अपने ऊपर सहकर उन्हें घटाने के लिए उसका अवतार हुआ है। परम पावनी माँ गंगा उसे धरती पर ही जा धरेंगी, धरती से उठायेंगी नहीं।"

माँ—"मिल गई तो क्या करेगा ?"

"मैं—सो तो नहीं कह सकता, माँ !"

माँ के मन में जैसे कुछ उठा। परमात्मा की अनुकम्पा में परिपुष्ट विश्वास या सन्देह ? कुछ नहीं, कह सकता।

मैंने कहा—"माँ, क्षमा न दोगी मुझे ?"

माँ के आँसू, मैं जानता था बहुत देर से उठ रहे थे, पर निश्चय के बाँध ने उन्हें रोका हुआ था। अब निश्चय का बांध कहां थमता ? वह खिसक पड़ा, और आँसुओं की बाढ़ आँखों में आ चमकी।

उन्होंने अश्रु-विकम्पित दुलार से कहा—"मैं क्या जानती थी, मुझे अपने बेटे को क्षमा भी देनी होगी—उस वक्त जब मैं उसे घर से निकाल रही हूँगी, और जब मैं उसकी क्षमा के लिए तरस रही हूंगी !"

कौन कहता है, मेरे आँसू नहीं आये ? जितने सुखा सका—सुखा सका, बाकी आंखों के कोयों में आ ही गये। वे बहुत थे और कतार बाँध कर टपकने लगे।

मैंने कहा—"माँ, यह न करो। मैं तुम्हारा बच्चा हूँ। सदा तुम्हारा बच्चा रहूंगा। मुझे अपना आशीर्वाद दो माँ !"

माँ—"आशीर्वाद देती हूँ । तुम्हारी आत्मा को शान्ति प्राप्त होगी । तू जान गया है, इससे बड़ा आशीर्वाद कोई नहीं ।"

सहसा माँ ने कहा—"रुपये लेता जाइयो । मेरी कसम, रुपया जरूर रख लीजो ।"

मैं—"रख लिये हैं, माँ, रख लिये हैं ।"

मैं झुका, मां के पैरों से लिपट गया । माँ के पैर भीग गये । माँ के आँसू टपाटप मेरे सिर पर गिर रहे थे । कई मिनट तक मैं एसे ही पड़ा रहा । उठा तो माता ने मेरा माथा चूमा । मैं झट से लम्बे कदम रख कर अपने बाहर के कमरे में पा पहुँचा । "चिट्ठी लिखता रहियो" की आँसुओं से सनी आवाज, जो अभी मेरे कानों में पड़ी थी, गूंज रही थी ।

चारों तरफ अँधेरा था । मैं रो रहा था । मेरी आत्मा भी रो रही थी ।

मैं घर से बाहर निकला । अनन्त विस्तृत विश्व में, गगन में, या धरती पर, वह पापिष्ठा धारिणी कहां है—यह खोजने के लिये ।

धरिणी को पाजाने में मेरा विश्वास कितना ही ढीला होता जाय, टूटता नहीं था । धरिणी जगत में नहीं है,—यह बात दिल में जमके देती ही नहीं थी । अगर वह नहीं है तो मुझे भी मरना होगा । और मैं अपने सम्बन्ध में अदृष्ट को इतना कठोर समझ नहीं सकता था। मुझे पूरा पूरा भरोसा था मेरा पाप धुलेगा । और इसीलिये मुझे भरोसा था, धरिणी शेष है । वह कब मिलेगी ?—इसकी आशा करने का मुझे अधिकार नहीं था और जब तक वह न मिलेगी--तब तक बिना आशा के और बिना निराशा के, व्रतशील, उसकी शोध में रहना होगा--ऐसा निश्चय मेरा था ।

अपनी आपदाओं का वर्णन करना--अपनी प्रशंसा की कामना करना है । और ऐसे पाप का बोझ ऊपर रहने पर प्रशंसा सुनने की इच्छा करना कमीनापन है । पापी के ऊपर कमीना बनने की लालसा

मेरे हृदय में नहीं है। इससे मैं अपनी आपदाओं का जिक्र न करूँगा।

पैंतीस रुपये में पाँच महीने गुजार देने का इरादा था। और मैंने अपना खर्च कसकर उसको अवधि में बांध लिया। पांच महीने के बाद, सोचता था, भगवान मालिक है। पर न जाने क्यों, मुझे लगता था, अपने पेट के लिये दो मुट्ठी चून का बोझा भगवान पर डालने की नौबत न आयेगी, भगवान व्यर्थ इतना ठहरेंगे नहीं, और अपने उस डेढ़-पाव चून के भार की आशङ्का को पांच महीने के पहले ही अपनी तनिक कृपा कटाक्ष से व्यर्थ कर देंगे।

पहले तो मैंने अपने शहर में ही पता लगाया। तीन-चार रोज तक मैं वहाँ रहा। इस बीच कोई स्त्री नहीं निकाली गई। कोई लाश नहीं मिली। मैं ज्यादे न ठहरा, गंगा के किनारे-किनारे उतर चला। जहां तक हो, गंगा के दोनों किनारे के गांवों में पूंछते-ताँछते बढ़ते चलने का इरादा किया।

तीन महीने इसी भटक में बीत गये। धरिणी की खबर नहीं लगी। अता-पता भी नही मिला। मेरे वर्णन की किसी स्त्री की लाश कानपुर से बनारस तक किसी भी जगह नहीं देखी गई। लाशें बहुतों ने बहुतेरी देखी थी, बहुतेरी सुनी थीं, बहुतेरी कल्पना की थीं कि उन्होंने देखी थीं, पर अन्त में जिरह के बाद मुझे ठहरना ही पड़ा, मेरी लाश कहीं किसी को नहीं मिली। मैं अब बनारस में आ गया था।

इस तीन महीने की शोध में घटनायें बहुत-सी हुईं। लगभग सभी का मेरे शरीर से सम्बन्ध था। उस दिन मुझे तपती रेत में इतने कोस चलना पड़ा। उस दिन पानी की बड़ी कठिनाई रही। अमुक-अमुक दिन खाने को न मिल सका। वहाँ घास में ही ओस के नीचे रात बितानी पड़ी। वहाँ गालियों से पेट भरना पड़ा! फलाने शहर में तो बालकों के पत्थर भी खाये थे। आदि! दूसरी दिशा में इसके विरुद्ध

अनुभव भी थे। बहुतेरी जगह मुझे सहानुभूति मिली, प्रेम मिला, सत्कार मिला। एक छोटे से गाँव में मैं गाँव भर का अतिथि बना। मेरे चलते समय बहुत से स्त्री पुरुष मुझे विदा करने आये। कई पुरुष समशोक के अतिरेक से पाँच-पाँच मील तक साथ आये। आदि आदि। इन सब में सोचने के लिए मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए कुछ न कुछ मसाला मौजूद है।

जीवन ऐसे छोटे-छोटे सुख दुख के थपेड़ों से गुँथकर ही पूर्ण बनता है। इस भटक के अनुभव में से मैं दो अवश्य पाठकों को दूँगा। मेरे लिए वे चिर-स्मरणीय हैं।

कोई पांच बज गये होंगे। धूप में अभी काफी तेजी थी। छः मील चलकर मैं·········पुर गाँव में घुसा। कुएँ पर स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। कुछ बच्चे भी थे। मैंने आगे बढ़कर एक बालक से कहा—"प्यास लग रही है, पानी दोगे क्या ?"

उसने तुरन्त कुएँ से एक ताजा लोटा जल निकाला। मैं ओक लगाकर जल पीने को तैयार हुआ ही, कि एक स्त्री ने कहा—"ठहर जा रे !"

अनुभव कुछ नया नहीं था। पानी पिलाते-पिलाने रुककर जाति पूछे जाने का कई बार अवसर आ चुका था। निराशा से सूखा मुँह मैंने ऊपर को उठाया।

स्त्री बालक की माँ थी। उसके मुँह पर प्रश्न नहीं था। वह सुन्दर नहीं थी, पर बड़ी भली थी, उसने कहा—"धूप में चले आ रहे हो। जरा सुस्ता न लो !"

प्यास तीखी लग रही थी, पर उसकी सलाह के लिये मैंने हृदय से धन्यवाद माना।

पास ही पीपल की छाँह में चबूतरे पर कुहनी टेककर मैं लोट गया।

बालक आया। एक लोटा और गिलास ले आया, और माता को

दे दिए। मैं देख रहा था, मैं देखते रहना चाहता था पर अब न देखा गया।

लेटे पाँच मिनट भी न हुए होंगे, मुझे उठना पड़ा। वही महिला गिलास हाथ में लिये खड़ी कह रही थी—"लो।"

बहुत बड़े-बड़े घरों के आतिथ्य की रुखाई जानने के बाद, इस गँवई महिला के आतिथ्य की मिठास को पाने पर जी हुआ—थोड़ा रो लूं। पर रोया नहीं, गिलास ले लिया।

वह तो शर्बत था!

कहने की कुछ हिम्मत न हुई। सब पी गया।

"लो।" "नहीं चाहिए।" "अजी लो भी।" "लेना ही होगा।" महिला ने अपना बड़ा लोटा खतम कराकर ही छोड़ा।

मुझे बैठने नहीं दिया—लेटने भी न दिया। उसके घर पर जाना ही पड़ा। घर पर खटिया पड़ी थी। बिछौना उस पर पड़ा था। वह पुराना था, और पहले ही का बिछा हुआ था। मुझसे कहा गया—"लेटो न? थोड़ा आराम कर लो।"

मुझे लेट जाना ही पड़ा। लेटने की इच्छा न थी, पर चूँ-चरा न कर सका। मैं उस भगवती को अपनी कृतज्ञता निकालकर दिखलाना चाहता था। पर वह थी नहीं भीतर चली गई थी, और मैं खटिया पर लेटा हुआ था। मैं सो गया।

नींद टूटी। वह मुझे याद है। नींद नहीं, वह घूँटी का नशा था। शाम के सात बज गये होंगे। एक प्रौढ़ वय के पुरुष चौकी पर बैटे कुछ पढ़ रहे थे। पुस्तक रामायण थी, और वह ब्राह्मण थे।

मुझे जगा देख, उन्होंने पूछा—"कहो भाई, इधर कैसे आये?"

उनसे कुछ न छिपा सका। रत्ती-रत्ती बात कह दी।

मेरी माँ-भगवती आईं। उनको भी सब कुछ बतला दिया गया। और हम तीनों में वैसे-ही सलाह हुई, जैसे मैं उनका पुत्र हूँ।

गांव से कोई एक मील थाना था। वह पुरुष मेरे साथ गये। थाने

से कुछ पूछ-ताछ करके मुझे आगे जाना था। उस गाँव की जरूरत खतम हो गई थी।

मैं रुक नहीं सकता था। वह दो तीन दिन टिकाये बिना मुझे जाने न देते थे।

मैं सोया हुआ था—रात को उठकर चल दिया।

जब अगले गाँव से चलने की तैयारी कर रहा था तभी उनके फिर दर्शन हुए। ×××× सुबह होते ही जब ब्राह्मण-पत्नी ने मुझे वहाँ न पाया, तब तुरन्त उन्होंने अपने पति को मेरी खोज में भेजा। आशीर्वाद दिये बिना मेरा जाना उन्हें अशुभ लगा। ब्राह्मण ने मेरा आशीर्वाद माँगा। क्या कहूँ? मुझे आशीर्वाद देना पड़ा, और मैं चल दिया......।

× × ×

दूसरी घटना सुनिये।

दे.........में मैं सबेरे दस बजे पहुंच गया। वह खासा कस्बा है। यहाँ थाना भी है—तहसील भी! एक छोटी सराय भी बनी हुई है। मैं वहीं पहुंचा। वहाँ जो लोग मिले उनसे बात चीत कर, अपने मतलब का थोड़ा बहुत पता पाने के बाद तहसीलदार से मिलने के लिए रवाना हुआ।

तहसीलदार सहाब जहाँ रहते थे, लोग उसे गढ़ी कहते थे। गढ़ी एक छोटे किले को कहते हैं। वैसे यह महल से बड़ा शब्द है। पर हम कहते हैं, 'महल' के लिए शहर वालों के दिल में जो आदर और आतङ्क है, वही उस कस्बे के लोगों के दिलों में गढ़ी की तरफ से था।

गढ़ी के दरवाजे पर ही मैं रोक लिया गया। बहुत कुछ मिन्नतें और पन्द्रह-पन्द्रह मिनट तीन चपरासियों को देने के बाद उनके कमरे के दरवाजे तक पहुँच पाया। वहाँ एक और हुजूर मौजूद थे। उन्हें भी बहुत कुछ दुआएँ झुकाईं। मुझे इनमें शर्म न लगी। हाँ, मजा जरूर आ रहा था। हुजूर भीतर गये, और साहब को एक आदमी

के आने की खबर पहुँची। घड़ी होती तो कह सकता, दो घण्टे तीस मिनट हुई या चालीस, जब मुझे भीतर पैर रखने के बाद परवानगी मिली।

साहब आराम कुर्सी पर पड़े हुए थे। हुक्के की नैंची मुँह में थी, अखबार सामने था। मैं सामने ब-आदाब खड़ा हो गया। पाँच मिनट में परमात्मा की अनुकम्पा, चार चपरासियों को पार कर, मुझ तक पहुँच सकी, और तहसीलदार साहब ने फर्माया—"वेल !"

मैंने अँगरेजी में बोलना शुरू किया।

तहसीलदार साहब को गंवार के मुँह से अँग्रेजी सुनने की आशंका न थी तभी उन्होंने 'वेल' भी कहा था। जो अंग्रेजी जानता है, और बोल सकता है, उससे क्यों व्यर्थ विलायती भाषा में बोला जाय।

उन्होंने कहा—"अबे, अपनी काबलियत क्यों बघारता है !"

मुझे उस समय अपनी शर्म जानने का अवकाश नहीं था।

मैंने कहा—"एक औरत गंगा में गिर गई है। वह, गंगा में कूदी है, इसका मैं पता लगा चुका हूँ। वाकया कानपुर का है। क्या आप कुछ मदद कर सकते ?"

तह०—"वह तुम्हारी कौन है ?"

मैं—"वह, मेरी कोई भी हो, इससे आपको क्या गर्ज ?"

तह०—"वह खूबसूरत थी ?"

मैं—"हाँ।"

तह०—"तुम उसे चाहते हो ?—वह नहीं चाहती। तुम क्यों उसके पीछे पड़े हो ? जाओ, आराम करो।"

मैं—"मैं दो शब्दों में बूझना चाहता हूँ—क्या आप उसकी बावत कुछ जानते हैं ?"

तह०—"हाँ जानता हूँ। वह मिल गई है। मरी नहीं—जिन्दा है। वह मेरे कब्जे में है।"

मैं—"मैं उससे मिलना चाहता हूं,—मैं......... ।"

तह०—"तुम जानते हो, वह खूबसूरत है, मेरे कब्जे में है। मैं बेवकूफ नहीं हूं, जो तुम्हें मिलने दूँगा।"

मैं—"कब्जे में है—इसका क्या अर्थ ?"

तह०—"इसके क्या दो अर्थ होते हैं ? मेरे कब्जे में है—मेरी है।"

मैं—"आप मुसलमान हैं, वह हिन्दू है। मैं उसे जानता हूं। जब तक वह आपके कब्जे में, समझ रखिये, आप आफ़त कब्जे में हैं। आप पर आफत लाई जा सकती है।"

तह०—"आफत-वाफत कुछ नहीं। तुम जैसे गंवार बहुतेरे देखे। पर मैं तुम्हें उसे दे सकता हूं।"

मैं—"मुझे और कुछ नहीं चाहिये।"

तह०—"तुम्हें नहीं चाहिये—मुझे तो चाहिये। मैं औरत दूँगा, तुम क्या दोगे ?"

मैं—"मैं क्या दूँगा ?"

तह०—"मुफ्त में औरत चाहने वाला तुम्हें ही देखा।"

मैंने सोचा—बातें कर देखने में क्या है ? "आपकी क्या मंशा है ? आप क्या चाहते हैं ?"

तह०—"और कुछ नही—पांच सौ तो चाहियें ही।"

मैं—"पाँच सौ ! मेरे पास तो कुल जमा में मुश्किल से बीस होंगे। पांच सौ कहाँ पाऊँगा।"

तह०—"तुम अंग्रेजी भी पड़े हो। शकील भी हो। खासे घर के मालूम होते हो। एक प्रो-नोट से काम चल जायगा। दो-तीन दिन तुम मेरे हलके के बाहर जा नही सकते। मेरे आदमी खबर रक्खेंगे। तब तक तुम्हारे प्रो-नोट की असलियत की भी तहकीक हो जायगी।"

मैंने देखा—एक पुर्जा लिखा देने से मेरा कुछ बिगडता नहीं। प्रो-नोट वसूल ये कर नहीं सकेंगे। यह नामुमकिन है। बल्कि अच्छा

ही है; उसकी बिना पर मैं कुछ कार्रवाई भी हजरत के खिलाफ कर सकूंगा।

मैंने तय करने के ढंग से कहा—"पांच सौ बहुत ज्यादे हैं। तीन सौ तक का तो कागज लिख सकता हूं। पर औरत पर से कब्जा दो दिन में आपको छोड़ देना होगा।"

तह०—"जरूर लीजिये, जरूर!"

चार सौ में फैसला हुआ। तहसीलदार साहब उठे। कागज-कलम ले आये, कुर्सी मेरी तरफ सरकाई, और बुखार की आँखों से मेरी ओर कागज की तरफ देखने लगे।

मैंने चार सौ का कागज लिखकर अलहदा किया।

मैं उद्विग्न हो रहा था। कहा—"अब चलिये, कहाँ वह औरत है?"

तहसीलदार साहब ने मुझे ऐसे देखा, जैसे उनका सब काम हो गया है; बस, एक काम बाकी है—और मुझे निकाल बाहर करना।

तह०—"मुझे नोट की बाबत इत्मीनान हो जाना चाहिये। उससे पहिले कब्जा मैं नहीं छोड़ सकता।"

मैं—"कब्जा नहीं, देखने का तो मैं मुस्तहक हूं।"

तह—"मैं तुम्हें दिखा भी नहीं सकता।"

मैं—"मैं उसे देखे बगैर नहीं जा सकता।"

तह०—"क्या? कौन? किसे?"

मैं—"उस स्त्री को?"

तह०—"तुम पागल तो नहीं हो। कैसी स्त्री विस्त्री?"

मैं—"तुमने अभी कहा था न?"

तह०—"कहा होगा। पर स्त्री विस्त्री कोई नहीं है। गंगा से कोई औरत नहीं मिली।"

मैं—"तो तुमने धोखा दिया, फ़रेब किया ऐं?"

तह०—"धोखा फरेब कुछ नहीं होता। मैंने तुम्हें बेवकूफी की

सजा दी।"

मैंने कसके एक थप्पड़ लगाया। उसकी आवाज पाकर चपरासी मुझे छू भी पायें—इससे पहिले ही मैं गढ़ी के बाहर निकल आया।

तहसीलदार का वेतन क्या होता है—कोई बताएगा? क्या वह इतना होता है कि सत्तर रु० महीने के छः नौकर और पिचहत्तर रु० महीने के घोड़ा गाड़ी रखने के बाद अपना आसायशी खर्च चला सके? या वह इसी तरह के 'डाकों' से 'सत्ता' की सत्ता और अपनी तहसीलदारी बनाए हुए है?

× × × ×

बनारस में मुझे सात रोज हो गये। गली गली छानी। पर धरिणी के पते की गन्ध भी न लगी।

क्या मैं निराश हो रहा हूँ? क्या पाप में सना हुआ मरने की तैयारी कर रहा हूँ?

परमात्मा....सब का भला करे।

९

●●●

आज बनारस में मेरा आठवां रोज है। कहीं मैं इतना नहीं ठहरा। जान बूझ कर अपनी इच्छा से यहाँ ठहरा हूँ—सो नहीं। मैं स्वयं नहीं जानता। कल मुझे काशी छोड़ कर आगे बढ़ जाना ही होगा।

ईर्ष्या, सभ्यता युग की देन है या नहीं—इसके बारे में मुझे अभी तक सन्देह है। वैभव देखकर स्वयं वैसा वैभव पाने की इच्छा का हो उठना—क्या सभ्यता के साथ ही शुरू हुआ? मैं कहता हूँ, उस इच्छा

में हीं ईर्ष्या का बीज है। स्पर्द्धा जैसे शब्द हम अपने को बहलाने के लिए ढूँढ़ सकते हैं, पर जहाँ यह इच्छा है, वहाँ उस घुन का कीड़ा भी है, इसमें मुझे कुछ संदेह नहीं। और मैं नहीं समझ सकता यह इच्छा नितान्त आदिम मनुष्यों में भी क्यों नहीं उठती होगी ? हाँ, इस सभ्यता युग ने उस के साधनों और अवसरों को बहुत बढ़ा दिया है। अच्छे अच्छे नाम देकर, उसे कुछ स्पृहणीय बना दिया है।

तो, जब चार घोड़ों वाली स्वर्ग से उतरी हुई उस बग्घी को मैंने देखा, तो क्या यही वस्तु मुझ में उठी थी ? या वह केवल उत्कंठित आश्चर्य था ? मैं समझता हूँ—वह दूसरी चीज थी, और आप कहेंगे, मैं धोखा खाना चाहता हूँ। निश्चय वह प्रच्छन्न ईर्ष्या थी।

मैं बग्घी को पाँच मिनट तक देखता रहा। आश्चर्य है, मुझे अपने पर आश्चर्य नहीं हुआ ! उसका वर्णन देकर मैं आपका अपमान नहीं करूँगा। आपको भारतीय नरेशों की इन्द्रोपम सवारियाँ देखने का सौभाग्य, या दुर्भाग्य ?–मिला ही होगा। मैं उसे और भी देखता—पर पाँच मिनट की स्वर्गीयता का दर्शन मेरे लिये बहुत था। इस लिये पाँच ही मिनट के लिए इस सौभाग्य को मैंने बुरा नहीं कहा, प्रत्युत सराहा ही। राजसी ठाठ में दो इन्द्र आये। बीच में एक अप्सरा थी। गाड़ी में सवार हुए, और बग्घी चल दी। मुझे निश्चय है, वह जरूर मुझे देख पा सके होंगे। मैं उनके मार्ग से जरा ही फासले पर खड़ा था। मैं बग्घी देखने में तन्मय था; उन्हें न देख सका।

गाड़ी चल दी, और मैं लौट पड़ा।

दिन भर घूम-फिरकर मैं धर्मशाला के बराम्दे में पड़ा हुआ था। शाम हो चली थी। दिन रात्रि से विदा माँग रहा था, और यह उनके मिलन का समय था। संयोग के प्रथम मिलन और वियोग के अन्तिम मिलन के रस प्रवाह में न बहकर एकस्थ ध्यान-मग्न होना सचमुच योग है। प्रातः और सन्ध्या मिलन काल है। उस समय प्रकृति के अनुपम वैचित्र्य से अपने को विच्छिन्न कर, 'स्व'-लीन होने का

प्रयत्न करना तपस्या है। शायद, यही कारण है, ध्यान सन्ध्या का समय प्रातः और सन्ध्या ही निर्देश किया गया है।

मैं भी सोच रहा था।

सहसा-ही लोग धर्मशाला के दरवाजे की ओर भागने लगे। कोई अद्भुत चीज वहाँ आगई दीखती है। मैं न उठा, लेटा ही रहा। दो आदमी आये। वे दरबान का ड्रेस पहिने थे। पास आकर बोले—"उठो चलो।"

मैंने चारों तरफ देखा। कौन है, जिसे 'उठो' कहा जा रहा है ? पर पास कोई नहीं था ; तो, क्या सम्भव है, यह 'उठो' की सजा मेरे ही लिए है ? मैंने दरबानों को देखा।

"उठो, और हमारे साथ चलो।"

हरे राम ! मैंने तो कोई कसूर नहीं किया। मैंने कहा—"क्यों उठना है ? और तुम क्या चाहते हो ?"

तनिक विनम्र होकर वे बोले—

"न चलना चाहें, वैसा कहें। हम लौट जायेंगे।"

मैं कुछ न समझा। समझने की कोशिश नहीं की। कहा—"चलो !" और उनके पीछे-पीछे हो लिया।

दर्वाजे पर वही बड़ी बग्घी खड़ी थी। लोग उसे ही कौतूहल से देख रहे थे। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। मैं सीधा बग्घी में जाकर बैठ गया। मैं अकेला था। दरबान पीछे खड़े हो गये। कोचवान ने चाबुक लगाया। बग्घी चल दी।

आश्चर्य मेरा खतम हो गया। मेरे अनेक मित्र थे, जो ऐसे ऐश्वर्य के अधिकारी थे। समझा, इनमें से किसी ने मुझे देख लिया है, पहचान लिया है, और अब मुझे वहीं ले जाया जा रहा है।

मुझे एक महल के फाटक पर लाकर छोड़ दिया गया। सामने महल था। तीस-चालीस गज की बजरी पड़ी हुई सड़क पर चलने पर महल का सहन आता था, जो टाइल के छोटे-छोटे टुकड़ों से गुदा हुआ था।

मैं नंगे पैर उसके किनारे तक पहुँच गया। बजरी मेरे पैर में चुभी और सड़क पर उसे बिछाना मुझे असभ्य सभ्यता मालूम हुई। मेरे दोनों ओर बगीचा था। सड़क उसी के बीच में से आई थी। बगीचा बहुत मनोरम था। पौधे, पशु-पक्षियों की शकल पर कटे हुए थे। जगह-जगह अप्सराओं और ग्रीक देवताओं की अतिशय सुन्दर पाषाण मूर्तियां हवा को आनन्द और उल्लास से भर रही थीं। दूध से धुले संगमरमर की वीनस की मूर्ति एक हाथ से अपना परिधान सम्हालती हुई और सामने के हाथ में एक क्षीणदीप्त दीपक के लौ को सतृष्ण नयनों से देखकर मुझे न-जाने क्या कहना चाह रही थी। दो ओर से दो वृक्षहंस अपनी फूलों की चोंच से उस दीपक की 'लौ' पर ठोंग मारने की तैयारी कर रहे थे।

पर इन सब मनोरमताओं को देखने, समझने और उनमें रस लेने का मुझे अवकाश नहीं था। गुलाब के पौधों से घिरे हुए एक बड़े लॉन में बड़ा सा शामियाना तना था। नीचे मोटी दरी पर बर्फ सी चाँदनी बिछी थी। इधर-उधर गलीचे और मसनद लगे थे। कोई पचास-साठ आदमी छोटी-छोटी गुत्थियों में एक अर्द्ध-वृत्त में छितरे हुए थे। उस अर्द्ध-वृत्त का मुँह मेरे सामने था। वृत्त के केन्द्र में महामना सज्जनों की ओर मुख किये छः साजिन्दे थे। यह जश्न का आयोजन था—यह सजी हुई महफिल थी

मैं इस महफिल की ओर देख रहा था। एक से एक, दूध के झाग की तरह उज्ज्वल हल्के कपड़े पहने था। आठ-दस सेवक हाजिरी बजा रहे थे। मिनट-मिनट पर पान की तश्तरी घूम रही थी। उम्दा सिगार थे। बीच में एक बढ़िया हुक्का था, जिसकी आठ गज लम्बी नैची ही महफिल के सब लोगों तक पहुँच जाती थी।

क्या मेरा स्थान यहाँ है? क्या मुझे इसी में योग देने के लिये लाया गया है? मेरे पैर में जूते नहीं थे, दाढ़ी के बाल बढ़ गये थे, कपड़े भी मैले थे। यह क्या है? क्या बात है?

मैं वहीं खड़ा-खड़ा देखना चाहता था—सामने के लोगों में क्या मुझ-जैसे का भी कोई परिचित हो सकता है ?

कल्पना ने सहारा नहीं दिया, मुझे कोई परिचित नहीं दीखा। मेरे होश-हवास गये नहीं। ऐसे समयों पर मुझे अपना होश खो देने की कभी नहीं सूझती।

मैं गया। एक ओर लगाये हुये तकिये को देख, बिना हिचक के वहां पहुँचा, बैठा और उसके सहारे जरा लेट सा गया।

यह ठीक न था। घुस-फुसाहट हुई। पर साहस-हीनता बड़े लोगों की पहचान है। अदब उनका साहस खा जाता है। मैं इतने आत्म-विश्वास के साथ आके जम-बैठा, कि उन्होंने देखा, और मुझे पूछने छेड़ने का साहस न किया।

यह पते की बात है कि ऐसी जगहों में जितना ही तुम अदब-आदाब का ख्याल रखते रहोगे—उतना ही रोओगे, और जितनी ही उनकी पर्वाह न करोगे—उतने ही शरीफ समझे जाओगे।

मैं मजे में तकिये के सहारा लिये फैला बैठा रहा; किसी का ख्याल न किया। लोग ज्यों-के-त्यों हो गये। मानो उनकी अचकन में शिकन आ गई थी और अब वह ठीक हो गई है।

सब गले में जान लेकर किसी की राह देख रहे थे।

एक ने कुछ देख पाया। क्षण भर में सब की निगाह उधर हो गई। महल की सीढ़ियों पर से राजा साहब 'उन्हें' उतरने में मदद दे रहे थे। पाँच गुलाम किम्खाम की ड्रेस में सज्जित, पेटी की गाँठ पर बायें हाथ पर दायाँ हाथ रक्खे, सतर चल रहे थे। उन्हें ?—वह कौन है ? क्या उन्हीं के लिये यह ठाट-बाट है ?

धरिणी ?....धरिणी ??....धरिणी नहीं है, कभी नहीं है।

मैंने फिर देखा—आँखें फाड़कर देखा ! आँखें गड़ा कर देखा !!

मानो मैं एवरेस्ट से गिरा ! ऐसा गिरा कि गिरता जा रहा हूं, पर धरती नहीं आती, जहाँ गिरकर चकनाचूर तो हो जाऊँ।—धरिणी

वह औरत ! हाय !!

और मैं क्या देखता हूं कि धरिणी भी मुझे देखती है ! पहचानती नहीं है, यह भी नहीं है । पर, उसकी निगाह में अचरज नहीं है । बहुत कुछ चुरा सकने के बाद बालक मानो अपना गुप्त खजाना गर्व से दिखला रहा हो, कुछ वैसे ही उल्लास के भाव से वह जर्क-बर्क कपड़े पहने, मेरे सामाने बढ़ती आ रही है !

उस समय मुझसे बैठा नहीं रहा गया, खड़ा नहीं रहा गया । मैं निश्शक्त व्यथा पाने लगा ।

कुछ मिनटों में मैं सम्भल सका । राग का आलाप लिया जा रहा था । सारंगियाँ ढीली और कसी जा रही थीं । तबलेवाले ने ठीक अपने तबले को बैठा लिया था । और गायिका अदा से बैठी हुई शै दे रही थी ।

मैं चुपचाप सरका, उठा, और बाग के एक दूर कोने में जहां अवाज न जा सके, जा बैठा ।

मैं क्या अनुभव कर रहा था ? एक बिना शब्द की वेदना, एक अव्यक्त पीड़ा, एक मर्मान्तक व्यथा । जिसे मैंने बहुत ऊँची जगह प्रतिष्ठित किया था उसे कैसे मैं पाप-पंक में आनन्द लेते देख रहा हूं ! उसे मैंने विषम घृणा से देखा, उस पर क्रोध किया,—सब कुछ—-पर जिस आसन पर मैंने उसे बिठा रक्खा था, उसे उस पर से नीचे नहीं गिरा सका । उसे गिराने में मेरी आत्मा दुखती थी । उसे गिरा दूँगा तो अपनी पूजा कहाँ चढ़ाऊँगा ? मैंने उस आसन पर उस मूर्ति को सुरक्षित रखने की चिन्ता से सोचा—मैं उसे अब और न देखूंगा ।

यह सोचकर बोला ही था कि एक स्वर, वीणा-विनिंदित स्वर, वायु में बहता हुआ मुझ तक पहुँचा । उसमें वेदना भरी कलप बज रही थी । क्या यह कलप मेरे ही पास भेजी गई थी ?

मेरा निश्चय कहाँ गया ? राग की धारा का अनुसरण करता, मैंने पाया, मैं महफिल के किनारे तक पहुँच गया ।

गायन उत्कर्ष पर था। गायिका आवेश में खड़ी हो गई थी। अपनी ही आवाज पर वह थिरक-थिरक उठती थी। गायिका अपने आपे में नहीं थी।

गंधर्व अप्सरा का कैसा कण्ठ होता है? क्या उसमें भी यह रस, यह तड़प, यह तेज नशा रहता है?

गायिका ने गाया—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।"

शब्द उसके कंठ से निकले। जैसे मानो मैं उन्हें प्रत्यक्ष देख सका। वे उठे, गूँजे, और अधर ओस की नाईं आकाश में तैरने लगे।

आवाज एक बार उत्तान आकाश पर चढ़ गई। कुछ क्षण वहां मंडरा कर धीरे-धीरे उतरी, और मेरे आगे आ विलीन हुई। 'लह्यौ' की अन्तिम ध्वनि काँपती हुई, क्षीण कण्ठ से निकली, और गायिका के अधरों पर फैलकर वहीं रम गई। वह तनिक मुस्कराई।

दर्शक जागे। ध्वनि की मधुरता वायु में सुवास दे रही थी। उसकी गूँज अभी शेष थी। राजा········चन्द उठे। गले से मोतियों की माला निकाल, उन्होंने गायिका के गले में पहना दी।

गायिका उठी। झुकी। एक क्षीण मुस्कराहट से उसने राजा साहब का धन्यवाद माना, और स्थिर मुद्रा के साथ एक ओर को बढ़ी।

मैं एक ओर कोने के पीछे—बिल्कुल पीछे—खड़ा था। क्या उसने मुझे देखा था?

रास्त उसका छूटता चला गया। वह बढ़ी—बढ़ती ही आई। बस, अब आगे मैं ही था। मैं भागने की सोचने लगा। पर, पैर गड़ गये।

मोती का वह हार उसने मेरे गले में डाल दिया। वह नीचे देख रही थी। अब मुँह उठाया। आँखों से उसके आँसू झर रहे थे।

धरती मेरे नीचे से खिसक गई। हार को चट निकाल, मैंने जोर से उसे राजा के ऊपर फेंक दिया।

हार टूट गया। मोती बिखर गये।

धरिणी क्या प्रसन्न हुई?

१०

मैं चल दिया। धरिणी ने मेरा हाथ पकड़ा। वह भी मेरे साथ चल दी। लोग मंत्र मुग्ध से हमारे लिये रास्ता छोड़ते चले गये। कोई कुछ न बोला।

सदर फाटक से निकले। सड़क-सड़क, दो-तीन-चार-पांच कितने फलांग निकल गये, मालूम नहीं। दोनों ही थे चुप, और दोनों ही शायद इस चुप का बोझा उतार डालने को एक स्थान पाजाने के लिये अकुला रहे थे।

एक ओर चार-पाँच आम के पुराने पेड़ आपस में गले मिलाये खड़े थे। उनकी सघन छाया में एक कुआँ आराम ले रहा था। मैं कुएँ की मुँडेर पर बैठ गया, वह खड़ी रही।

वह 'उस' लिबास में,—मैं एक मोटी धोती और गाढ़े का मटमैला कुर्ता पहने हुए। वह निखरी हुई—मैं महीनों का मैला।

मैंने उसे सिर से पैर तक देखा—जैसे वह मेरा भ्रम तो नहीं था। फिर अपने हृदय की आतुरता को संभाला, और पूछा—

"तुम कौन हो?"

उत्तर मिला—"इलाहाबाद की मशहूर······"

मैं समझ गया। आगे की बात सुनकर भी मैंने मानों न सुनी। कहने वाली के मुँह पर लाज की परछाईं भी नहीं थी।

मैंने पूछा—"तुम तो गंगा में डूबी थीं। डूबी क्यों नहीं? डूबी नहीं बच गई?"

वह अब भी तो नहीं डूबी। उसने उत्तर दिया—"डूब जाती, तो अच्छा होता। क्यों?"

मैं—"अब तो कहना पड़ेगा, अच्छा ही होता।"

इस 'अब' से उसकी आत्मा ऐंठ गई। इस 'अब' में, जो मेरे सामने खड़ी थी, उसके लिये कैसा तीखा व्यंग था!

ध०—"और तुम खुश होते?"

मैं—"हो सकता, या नहीं—यह नहीं जानता. पर कोशिश अवश्य करता। तुम्हें सामने पाकर यही लगता है। धरिणी मर गई होती तो मुझे कम दुख होता।"

ध०—"तो तुम मान सकते हो, धरिणी मर गई। जो है, और कुछ है।"

मैं—"यही मान कर तो मुझे जिन्दा रहना होगा।"

ध०—"नाम पर पहचानना तुम्हें दुखता है? क्यों, तभी तो मैं कहती हूँ, धरिणी मर गई। और शायद तुम यह सुनकर खुश होते हो!"

मैं—"मैं सचमुच खुश होना चाहता हूं। तुम्हें सामने पाकर मैं धरिणी का बची रहना नहीं सुनना चाहता।"

वह इस गाली को पी गई। बोली—"तो सच यह है मैं भी धरिणी रहना नहीं चाहती। धरिणी के लिये धरती पर स्थान नहीं था। मैं अपने लिये स्थान चाहती हूँ; और स्थान लूंगी। धरिणी रह कर मैं यह नहीं कर सकती। जो कुछ बनी हूँ, देखते ही हो, उससे बहुत कुछ कर सकती हूँ। दुनियाँ में मैं अपने लिये स्थान बना चुकी

हूँ । सुनते हो, मैं इसे अवनति नहीं पा रही हूँ । उन्नति मानती हूँ ।"

मैंने कहा—"देखो धरिणी, सुनो ! इसके बाद मैं तुम्हें धरिणी कहकर पुकारूँगा, या धरिणी के नाम से सोचूँगा भी—इसकी आशा नहीं है । यह अंतिम बार है, इसलिये मैं अपने को क्षमा कर सकता हूँ । सुनो, मैंने हृदय में एक चित्र स्थापित किया हुआ है । वह मूर्ति एक विधवा की है; एक बाल-विधवा की है । उसका नाम भी धरिणी था । संसार का पाप सिर पर लेकर वह अपनी देह के साथ, उसे मां-गंगा में विसर्जन करने, उसके साथ बहा देने के लिये, जा रही है । मां गंगा अपनी गहरी गोद फैलाये मानो अपनी पुण्य-कन्या को बुला रही है । यह चित्र जब से अपनी सजीवता में मेरी आंखों के सामने घटा, मैंने अपनी आँखों की राह खींचकर अपने हृदय में उसे प्रतिस्थापित कर लिया । वह मेरे प्रायश्चित्त का मन्त्र बन गया है । जब तुम मुझे दिखीं, मुझे लगा—मेरा चित्र मेरी आंखों के सामने ही भ्रष्ट किया जा रहा है । मैं उसे भ्रष्ट होते नहीं देख सकता । इससे, धरिणी, क्षमा करना, मैं तुम्हारे उससे सम्बन्ध हठात नहीं सुनना चाहता—नहीं देखना चाहता ।"

वह चुप रही । शब्द बड़े ही पैने और विष बुझे थे । वह भीतर तक खुब गये । पर मानों उसे कुछ हुआ ही नहीं । वह चुप रही ।

कुछ देर ठहरकर मैंने कहा—"तुम कहाँ रहती हो ?"

उसने जवाब दिया—"इलाहाबाद ।"

"यहां कितने दिनों से आई ?"

"आज तीसरा रोज है ।"

"क्या तुमने ही मुझे देखा था, और उठवा मँगाया था ?"

"हाँ ।"

"क्यों ?"

"मैं देखते ही जान गई थी, आप मुझे ढूँढ़ रहे हैं।"

"क्या और कोई रीति मुझे जतलाने की नहीं हो सकती थी?"

"कैसे हो सकती थी, आप गली-गली घूम रहे थे, मैं राजा की मेहमान थी। और मैं अपने ठाठ को भी आपको दिखाना चाहती थी।"

"हाँ?"

'हां!!' पर यह 'हाँ' क्या किसी गहरी कब्र के गर्भ से निकल रहा था? फिर इतना बारीक, दीन तड़पता हुआ क्यों था?

मैं बरबस गलना शुरू हुआ। मैंने कहा—"तुम मेरे साथ क्यों चली आई?"

उसने मरती हुई आवाज में उत्तर दिया—"गलती हुई।"

मैंने पूछा—"अब तुम कहाँ जाओगी?"

उत्तर मिला—"नहीं जानती।"

फिर पूछा—"तुम्हारा साज-सामान कहां है?—वह तो बहुत होगा?"

ध०—"हां बहुत है। राजा के यहाँ है।"

मैं—"साजिन्दे भी तुम्हारे हैं?"

ध०—"दोनों तबलची, एक सारंगीवाला मेरा है।"

मैं—"तो तुम जाती क्यों नहीं? मुझे जाने दो।"

ध०—"चली जाऊँगी! आप जाओ।"

कोई कह रहा था, मैं उसे छोड़कर जा नहीं सकता। इसलिए मैं चल दिया। मनः—शक्ति को कितना सख्त करना पड़ा था उस वक्त! पर बीस-पच्चीस गज के बाद उसने जवाब दे ही दिया। टाँगें उठती ही न थीं। मुझे लौटना पड़ा। धरिणी निर्जीव वृक्ष की तरह खड़ी थी। मैं मुड़ा, पास पहुँचा। वह मेरे पैरों में गिर पड़ी।

मैं क्यों खड़ा रहा; भाग क्यों नहीं गया?

कितने मिनट वह पैरों में पड़ी रही? मुझे क्या मिनट गिनने की

चिंता थी ? अपनी इस निकृष्ट जय में मैं मरा नहीं जा रहा था,—पाठक, नाराज मत होना—इसमें भी एक सुख, हां—सुख, ले रहा था।

गंगा में डूबने वाली वह, अपने अप्सरा तुल्य वस्त्रों के साथ मेरे पैरों की धूल में लोट रही थी, और उसे डूब जाने देनेवाला मैं अपने पैरों को आंसुओं से धुलवा पाकर मानो आकाश में चढ़ा जा रहा था।

अपनी शर्म समझने के लिये परमात्मा ने थोड़ी सी मनुष्यता मुझ पशु में भी रहने दी है। धरिणी को मैंने उठाया और उसे देखने का अवसर दिया कि मेरे भी दो तीन आँसू निकल आये हैं।

धरिणी बोली—"मेरे देवता··········'

हा, निष्ठुर उपहास !—"मेरे देवता··········!" विधि की यह कैसी विद्रूप निर्दयता है ! ! !

उससे कहना जारी रक्खा—

"मेरे देवता··········एक बात मुझे पूछ लेने दो। उसे सुन लो। उसके बाद मैं तुम्हें कभी कष्ट न दूँगी। कभी मुँह न दिखाऊँगी। मुझे बताओ—जगत् के एक पाप को कम कर, उसे अपने जीवन के साथ गंगा में विसर्जन कर देने के विरोध में, आजीवन—आमरण—जितना हो सके, दुनियाँ के दुष्कृत्य और यातनाएँ लादकर जगत से अन्तर्हित होजाने की इच्छा करना—तुम्हें इतना दुर्विसह्य क्यों है ?"

मैं सोचता रह गया। कुछ कहने के लिये कहा—"धरिणी !"

धरिणी ने कहा—"देव, जिधर तुम बढ़े हो, वही ठीक दिशा है। जरा और आगे बढ़ने से क्या तुम मेरी बात पर ही नहीं पहुंच जाओगे ?"

मैंने देखा चारो ओर पापों से घिरी रहने पर भी वह उनके ऊपर वैसे ही अवस्थित थी, जैसे जल पर कमल पत्र ! और पानी की बूँद की नाईं कोई दुष्कृत्य का बिन्दु उस पर यदि चमक भी रहा था, तो

जरा ठसका देने पर वह दूर हो जा सकता था।

मैंने कहा—"धरिणी! मैं तुम्हें नहीं जानता था। अब जानने लगा हूँ। तुम्हें मैं अब भली प्रकार पढ़ने की कोशिश करूँगा। तुम मेरी देवी हो। धरिणी, क्षमा करना। भूल में तुम्हें क्या समझ कर मैं दुनियाँ के पुण्य की ओर लपका जा रहा था।

धरिणी ने कहा—"देव, हम कब जानेंगे कि कीचड़ में उगने में ही कमल की सार्थकता क्यों है? पानी के बीच में रहने पर ही खिलने को वह क्यों बाध्य है?—और पानी से निकलने पर वह क्यों मुर्झा जाता है? क्या उसी तरह यह अनिवार्य है, कि पुण्यश्लोक महात्मा पाप के मध्य में रहकर ही खिल सकते हैं? वहीं से वह उगेंगे—वहीं उनके जीवन का स्थान है, और वहाँ से टूटकर अलग जा पड़ने पर वह मुर्झा जायंगे? देव, क्या यह सच है कि कमल की तरह पानी में रहते हुए पानी से तैरते रहना महत्ता का लक्षण है?"

मैं—"धरिणी, इन बातों का फैसला मुश्किल है। मैं अपने लिए ही स्पष्ट नहीं कर पाया हूँ। मुझे लगता है, कमल अपने भाग्य से प्रसन्न नहीं है। यदि मनुष्य की तरह उसे हविस का रोग होता, तो वह इस वैराग्य-विधान से प्रसन्न न रहता। पानी की गोद में रहकर उसे उसका ममत्व पाने की लालसा रहती, और सब के सब तरह के गुप्त-रसों में उलझकर अपनेपन को भूल जाने में ही वह अपने जीवन की यथार्थता समझता। धरिणी, मैं समझता हूँ, बुद्धि मनुष्य का सब से बड़ा श्राप है। जब तक वह उस श्राप से बंधा हुआ है, मैं उसे कमल के उदाहरण और उसके आदर्श की जगह पर उपस्थित करने में डरता हूँ। मैं तो कहूँगा—वह पानी से दूर भागे—पास आने को इच्छा भी न करे, सो वह ही अच्छा है। इस तरह वह कमल न बन सके तो क्या, और मुर्झा पड़े तो भी क्या, उसे यह तो संतोष रहेगा, कि वह पानी से अलहदा रह सका। मनुष्य जब बुद्धि को नष्ट कर डाले, तब, या जब वह उसे बिलकुल अपना गुलाम बनाले, तब—उसे इस उदाहरण से

मिलने का अधिकार दिया जा सकता है; उससे पहिले नहीं। पर धरिणी, तुम जानती हो, बुद्धि से मेरी ऐसी शत्रुता करने का एक कारण है, और इसलिए कौन कह सकता है, मेरी बात का कारण एक—पक्षीय नहीं है ?''

धरिणी की बौद्धिक योग्यता की बाबत मैंने पाठकों को अभी कुछ नहीं बतलाया। धरिणी का इतना परिचय पाने के बाद अब शायद उसकी जरूरत भी नहीं रही है। मेरी राय का और भी प्रभावों से प्रभावित रहना सम्भव है।—इससे पाठक अपनी राय खुद ही बनायें। परन्तु मुझे यह तो कह देना ही है, मैं धरिणी को उत्कृष्ट कोटि की बौद्धिक सामर्थ्य-सम्पन्न मानता हूँ। उसकी दृष्टि बहुत ही पारदर्शी है; और उसकी बुद्धि में यह है कि किसी के आसरे टिकना वह जानती ही नहीं, और सदा मौलिक मार्गों में भटकना पसन्द करती है।

धरिणी ने कहा—"मेरा अनुभव कुछ और ही है। पाप में घुसकर उसकी तहों को खोजने लगने में, उसका विश्लेषण करने में ध्यान लगा देने से पाप का आकर्षण सहज नष्ट हो जाता है; जबकि दूर भागने से वह ज्यामिति-अनुपात में बढ़ता है। ज्ञान से पाप बहुत डरता है, क्योंकि ज्ञान पाप से नहीं डरता। ज्ञान मनुष्य को पाप तक खींच ले जा सकता है,—उसमें डाल भी सकता है; पर उसमें भ्रष्ट होने नहीं दे सकता। भ्रष्ट आदमी तब होता है—जब वह बुद्धि को छोड़ देता है। ज्ञान मनुष्य का संरक्षक है। मैं बुद्धि को परमात्मा की देन मानती हूँ।"

मैं—"मैं मान सकता हूँ, तुम ज्यादे युक्ति संगत हो। पर मुझे तो मेरी ही बात रुचती है। मैं बुद्धि के भार से घबड़ाता हूँ। मैं उसे अब कभी भी प्राधान्य न दूँगा"

× × × × × ×

उस समय मुझे इन बातों के विचार में पड़ने की इच्छा नहीं थी। धरिणी के बारे में मैं झटपट ही बहुत कुछ जान लेना चाहता था।

मैंने कहा—"अब तुम स्पष्ट कहो—क्या करने का तुम्हारा इरादा है ?"

ध०—"आदमियों को अगले महीने का वेतन कल ही दे चुकी हूँ। बंगला किराये का है और उसका भी साल भर का किराया भुगत चुका है। जो सामान है, उसके लिए मुफ़्त के ग्राहकों का टोटा न रहेगा। मैं वापिस नहीं जाना चाहती।"

मैं—"तो क्या यह सब तै करने के बाद ही मेरे साथ चली थीं ?"

ध०—"कल जब तुम्हें देख पाया था, तभी समझ लिया था, मेरे ढोंग का अन्तिम दिन आगया है। अब इस सारे ठाठ की क्या जरूरत है ?"

मैं—"यह ढोंग है, इसे तो मैं मान ही चुका हूँ। इसकी कब और क्यों जरूरत आ पड़ी—क्या बताओगी ?"

ध०—"अपने ही मुँह से, और तुम्हें बताऊँगी ? न बता सकूँगी।"

मैं—"क्या पाप की कहानी है ?"

ध०—"हाँ, कहूँगी, तो पाप ही होगा !"

मैं—"तो न कहो। मैं अपने को दुःख नहीं पहुंचाना चाहता। उसके बिना मेरी तुममें श्रद्धा शायद ज्यादे दृढ़ रहे। बताओ, तुमने आगे के लिए क्या सोचा है ?"

ध०—"मुझे सोचने का क्या अधिकार है ?"

मैं—"तुम न सोचोगी—तो, तुम्हारा कौन अभिभावक है, जो सोचेगा ?"

ध०—"सो आप जानें।"

मैं—"मैं कौन हूँ ?"

ध०—"आप मेरे देवता हैं।"

मैं—"देखो धरिणी, मुझे देव-वेव न कहा करो। मैं जानता हूं, मैं पशु हूँ। परन्तु पशु भी ऐसा तिरस्कार नहीं सह सकता। जानती हो,

देवता कैसा होता है ? एक—बस एक—ईश्वर ! शास्त्रों को मानें, तो स्त्रियों का एक और देवता हो सकता है—वह, उनका पति !"

ध०—"तो क्या आप चाहते हैं, मैं आपको देव न कहूँ ?"

मैं—"ईश्वर की प्रतारणा अगर हो, तो कहो।"

वह चुप रही, फिर बोली,—"तो आप मुझे कुछ आज्ञा देना नहीं चाहते ?"

मैं—"धरिणी, मैं तुम्हें आज्ञा नहीं दे सकता, मैं तुम्हारी क्षमा लेना चाहता हूँ। जानती हो, क्यों ? इसलिए कि तुम्हारी शर्म पाकर मुझे अधिकार मिले, कि मैं मनुष्य बनने का प्रयत्न करूँ।"

ध०—"अगर तीन महीने से ज्यादे भटकते रहने से, उस तुच्छ अपराध के बिल्कुल धुल जाने के बाद, मुझ पर बहुत सा आभार न चढ़ गया होता, तो मैं पैरों में गिरकर आपको क्षमा करती।"

मैं०—"धरिणी, तुम कैसे जानती हो, मैं इन तीन महीने तुम्हारी टोह में फिरा किया हूँ।"

ध०—"पहिली बार आपको देख कर यह जानने में मुझे कुछ देर न लगी थी।"

मैं सोच में पड़ गया। दो-तीन मिनट बाद मैंने पाया, मैं कह रहा हूँ—

"तुम मेरे साथ चलोगी ? अगर आपत्ति न हो, तो मैं तुम्हें अपने साथ ही रखना चाहूंगा।"

वह मेरे पैरों में फिर गिर गई। रुद्ध कण्ठ से बोली—"क्षमा करना, तुम मेरे देव हो—सदा तुम मेरे देव बने रहोगे।"

× × × ×

११

मेरी कहानी का यहाँ अन्त आ गया है। पहिले अध्याय के 'आज' के अब हम समीप आ गये हैं।

मैं अब डिपुटी-कलक्टर हूँ। धरिणी और मैं साथ रहते हैं। धरिणी मुझे जानती है। मैं उसे जानता हूँ। 'शशि' के ऊपर हममें अक्सर झगड़ा हुआ करता है। धरिणी कहती है—"मुझे शशि के पास जाना चाहिये।" प्रायश्चित्त में बँधा हुआ हूँ। धरिणी को छोड़कर कैसे जा सकता हूँ ?

भविष्य ? भविष्य क्या है ? परमात्मा अनन्त-भविष्य को हस्तामलकवत् जानता है ? क्यों जानता है ?—सोचने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूं, कि वह पूर्ण शक्ति-शाली है, इसलिए। अनिश्चय, विकम्पन, ढीलापन- सन्देह;—ये उसके पास नहीं फटकने पाते। इसी से वह भविष्य का स्वामी है। विचार की स्थिरता और कार्य की दृढ़, सतत अविचलता भविष्य को बहुत कुछ हाथ में दे देते हैं। हम मनुष्य निर्बल हैं—हम भविष्य को नहीं जानते; उससे आतङ्क खाते हैं।

मैं जानता हूँ—मैं निर्बल हूँ, बहुत निर्बल हूँ। भविष्य को लिखने का साहस मैं नहीं कर सकता। भविष्य का उपसंहार मैं भविष्य के लिए ही छोड़ देता हूँ।

मैं प्रायश्चित्त की कहानी लिखने बैठा था। मैं उसके समारम्भ तक ही आ पाया था। यहीं उसका अन्त है।—मैं सच कहता हूँ, मैं नहीं जानता। मैं नहीं चाहता, प्रायश्चित्त का कभी अन्त हो। वह चलता ही

रहे—अनन्त तक चलता रहे। क्योंकि मैं डरता हूँ—प्रायश्चित्त के अन्त की आशा करना पाप है।

दो शब्द और। मेरे द्वार से अब कोई भिखमंगा खाली हाथ नहीं लौटता। जो अपराधी मेरी अदालत में आते हैं—जेल की कोठरी में पत्थर पर बैठकर, पूरे दो घण्टे उनके कुटुम्ब की, उनके सुख-दुख की, उनके अपराध की, विवशता की; गाथाओं पर बातचीत करना मैंने अपना नियम बना लिया है।

उन्हें जरा शान्ति देकर मैं कितनी शान्ति पाता हूँ—सो क्या, मैं अभी बता सकता हूँ ?

धरिणी की कहानी

नवीन ने अपनी कहानी कही है। उसे पूरा करने के लिए मुझे भी अपनी ओर से कुछ कहना ही होगा। नवीन ने अपने साथ अन्याय किया है। पाठक नवीन के साथ अन्याय न कर पाये, इसलिए, कहानी में अपना भाग मुझे देना है।

नवीन ने अपनी माँ का जिक्र किया है। मेरी माँ उससे उल्टी थीं। उनकी दिनचर्या मुझे कल की बात की तरह याद है। सुबह चार बजे उठ खड़ा होना अनिवार्य था। कड़कता जाड़ा और बरसता पानी भी उन्हें गंगा स्नान को जाने से न रोक सकता था। फिर सब कुछ भूल कर एक घण्टा जप, और एक घण्टा रामायण का पठन उनके लिए भोजन से ज्यादे आवश्यक था।

रामायण पर उनकी अतुल श्रद्धा थी। सीताजी का चरित्र मानों अपने में रमा लिया था। आधुनिक तार्किकों की तरह रामायण के किसी भी चरित्र पर टिप्पणी करने की गुंजाइश तो थी ही नहीं। सीताजी ने पति परायणता का जो आदर्श रक्खा है, माँ उसी को, केवल उसी को स्त्री-मात्र के लिये ग्राह्य और उद्धारकर्त्ता मानती थीं। उनके विचार सोलह आने पौराणिक थे। पर्दे का वे पक्षपात करती थीं, स्त्री-शिक्षा की—खासकर स्कूली शिक्षा का वे घोर विरोध करती थीं। सभा-सोसायटी से उन्हें नफरत थी। पिताजी........

हाँ, पिताजी ?........

पिताजी का सभा-सोसायियों से जो सम्बन्ध था, वह आगे चल कर बताऊँगी। पर यहाँ तो यह कहना चाहती हूँ, कि पिताजी के किसी

कृत्य पर टीका टिप्पणी करना माँ अपने धर्म के दायरे के बाहर समझती थीं।

मैं छोटी थी, तब मेरे स्कूल जाने की बात शुरू हुई। माँ ने उसका विरोध किया। "लड़की के मन की विशुद्धता और स्त्रीत्व स्कूल में नष्ट हो जायगा। आँख मींचकर ऐहिकवाद के पथ पर दौड़ाने वाले परिचय की नकल पर भारत का भविष्य नष्ट हो जायगा। लड़की का भला इसी में है कि उसे स्कूल न जाने दिया जाय।"—इत्यादि !

माँ की इन सब सनकों के बावजूद मैं एक स्थानीय कन्या शाला में पढ़ती थी। शशि भी उसी शाला में मुझसे दो दर्जे नीचे पढ़ती थी। अवस्था में वह कोई मुझसे डेढ़-दो साल छोटी थी।

सतीश और नवीन वहीं के एक हाई स्कूल में एक साथ पढ़ते थे। उन्हीं के साथ शशि के भाई भी पढ़ते थे। शशि के भाई सतीश से दो साल बड़े होंगे।

हम सब छुट्टी के दिनों में एक साथ खेला करते। पर शशि के भाई अधिकतर गैर हाजिर रहते। उन्हें इन खेलों में रुचि न थी, और वह अपने से छोटों की अपेक्षा अपने से बड़ी उम्र के लड़कों में ज्यादा रहा करते थे।

नवीन से मैंने सुना है, आठवीं क्लास तक वह अपनी क्लास में सदा प्रथम रहते थे, नवीं के सालाना इम्तिहान में वह कठिनता से पास हो सके, और मैट्रिक में लुढ़क ही गये।

नवीन और सतीश साधारणतः तेज छात्रों में थे। नवीन में स्वाभाविक प्रखरता के अतिरिक्त अध्यवसाय भी था—और, इससे वह सदा ही अध्यापकों के कृपा-पात्र और क्लास में ऊँचे रहे। सतीश को अपनी तीक्ष्णता पर ही निर्भर रहना होता था। परिश्रम से वह खार खाता था। इससे पास तो होता रहता था, पर खास नम्बर नहीं ला पाता था।

सतीश और नवीन दोनों ही शशि को बहुत प्यार करते थे। वह

सब से छोटी थी—और, मैं भी उसे बहुत प्यार करती थी। पर उन दोनों का सदा शशि का पक्ष लेना मुझे अच्छा न लगता था। और मैं शशि को चिढ़ा कर अपनी खीझ का बदला लिया करती थी।

पर शशि के भाई शशि पर इतना प्यार नहीं कर सकते थे। वह उनकी बहन है, और उसे प्यार करना ही होगा—यह विचार ही उन्हें शशि के प्रतिकूल डाल देता। वह, जब कभी होता, मेरा ही पक्ष लेते। और उससे मैं प्रसन्न होने के साथ साथ कुछ चिढ़ती भी थी।

शशि बड़ी ही भोली भाली लड़की थी। जैसी वह तब थी, वैसी ही अब भी होगी। वह आसरे के बिना बिल्कुल खड़ी नहीं हो सकती। वह जब बड़ी हुई, तब भी उसे एक अभिभावक जरूरी था। स्कूल वह सदा नौकर के साथ आती, और जाती तो नौकर के साथ जाती! नौकर न आता, तो मुझे पहुंचाने जाना पड़ा करता। अकेली वह घर जा ही न सकती थी।

उसने मुझे अपना सहारा माना हुआ था। खेल में, बात-चीत में —किसी भी काम में—वह मेरी ओर ताकने लगती। जैसा मैं कहती वह वैसा ही करती। मैं कुछ न कहती तो वह कुछ न करती। खड़ी रहती—ताका करती।

क्या यह उसकी परमुखापेक्षिता ही थी—जिसने नवीन को अपनी ओर खींच लिया? कहते हैं, पुरुषों में किसी के अवलम्ब बनने की अत्युत्कट लालसा रहती है। यह उनके पुरुषत्व का तकाजा है। वह चाहते हैं, कोई उनका सहारा ले—उन पर निर्भर हो रहे। वह अपने बाहुओं के संरक्षण में किसी को सुखी देखकर सुख का अनुभव करना चाहते हैं। क्या यह सच है कि इसीलिए वह अपना व्यक्तित्व रखने वाली रानी की ओर सहज नहीं खिंचते?

मुझे मेरे वे दिन याद हैं। बहुत-ही घटनाएँ हुईं, उनमें से एक एक को मैं आज भी अपने सामने देख सकती हूँ। आह! अगर मैं न बढ़ती और उतनी ही रही आती, तो क्या मेरा स्वर्ग मुझसे छिनता? पर

संसार स्वर्ग नहीं है, और जो स्वर्ग बनाकर यहाँ रहता है, उसे अपने स्वप्न को छिन्न हो जाते हुए भी एक दिन देखना ही पड़ता है।

शशि के भाई ने एक दिन मुझे एक गुड़िया लाके दी। मैं उनसे लेना नहीं चाहती थी, पर मुझे लेनी ही पड़ी। शशि ने उसे देखा और लेने की हठ करने लगी। वह दर-असल उसी की थी—नवीन ने लाकर उसे दी थी। मैं यह जानती थी, और मैं शशि को गुड़िया दे भी देनी चाहती थी,—पर यह देखने के लिए कि नवीन क्या कहते हैं!—नहीं दी। शशि जिद करने लगी—पर, मैंने गुड़िया दी नहीं। वह रोने लगी।

नवीन ने यह सुना। कहा—"धरिणी, गुड़िया शशि को दे क्यों नहीं देतीं? वह रो रही है।"

मैंने कहा—"क्या करें, रो रही है तो?"

इतने में ही शशि ने रोते-रोते कहा—"गुड़िया मेरी है, वही है, जो तुमने दी थी।"

नवीन ने कहा—"धरी, शशि तुमसे छोटी है। फिर वह कहती है—गुड़िया उसी की है। तुम दे क्यों नहीं देती?"

मैंने कहा—"मैं क्या जानूँ उसी की है? मैं तो नहीं देती।"

नवीन—"मुझे दिखाओ तो। मैं बता दूँगा—यह वही है, या नहीं।"

मैंने कहा—"मुझे मिली है—मेरी है—मैं क्यों दिखाऊँ?"

नवीन—"और जो दिखाई तो?"

इतने में ही सतीश ने कहा—"धरी मेरी बहिन है। तुम उसे डपटनेवाले कौन होते हो?"

नवीन—"चुप रहो जी, तुम! तुमसे कोई बोल भी रहा है?" मुझसे कहा—"बोलो दिखाती हो कि नहीं?"

मैंने कहा—"नहीं दिखाती, मैं नहीं दिखाती। कर लो क्या कर

लेते हो ?"

इस पर नवीन को गुस्सा हो आया। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा, और ऐंठना शुरू किया। मेरा हाथ छुआ ही था, कि मैं 'आह' कह उठी— जैसे मेरा हाथ टूट ही गया हो। इतने में ही सतीश नवीन पर आ टूटा। गुत्थम-गुत्था शुरू हो गई। ओह, मैंने यह क्या किया !

सतीश ने अचानक आवेश में हमला किया था। कुछ देर तक वह विजयी रहा। उसने नवीन को खूब झकझोरा। पर जब नवीन पूरी तेजी पर आ गये, तो वह सतीश से कम न साबित हुए। कुछ देर तक बराबर की जोट रहने पर, नवीन ने सतीश को नीचे दबा लिया; और दबाए रक्खा। सतीश अब उसके बिल्कुल काबू में था। दो तीन मिनट तक वह दबाए रहे, फिर क्या सूझा—सतीश को छोड़कर अलग खड़े हो गये।

सतीश खड़ा हो गया था, और सोच रहा था, हमला शुरू करूँ या नहीं कि नवीन ने उसका हाथ लेकर कहा—"सतीश क्षमा करो। गलती मेरी थी—माफी माँगता हूँ।"

सतीश पागल-सा खड़ा था। नवीन बढ़े, एक कोने में से बेंत उठाया और मेरे हाथ में देकर बोले—"धरी मैंने तुम्हारा हाथ ऐंठा, जोर-से मेरे एक बेंत जमाओ तो।"

मुझे क्या हुआ—मैंने गुड़िया शशि के पास फेंक दी, और एक बेंत कसके नवीन की पीठ पर मार दिया ! मैं ग्यारह बरस की थी, तो क्या ? चोट तो लगी ही होगी !

बेंत खाकर नवीन मुड़े, हँसे और मुझे माथे पर चूम लिया। शायद यह कह देने में कुछ अर्थ है, कि वह गुड़िया शशि को नहीं मिली; उसे सतीश ने ही ली, और दूसरी गुड़िया लाकर शशि को दे दी।

उस रोज की मुझ पर अमिट छाप पड़ी। उसी रोज से सतीश नवीन से भय खाने लगा। आगे से फिर कोई झगड़ा नहीं हुआ। नवीन की बात सदा बिना चूँ के मान ली जाती।

पर नवीन क्यों शशि की तरफ झुकते हैं ? मैं मन-ही-मन इससे बेचैन होती थी।

क्या यह ईर्ष्या थी ? हाँ, यह ईर्ष्या थी !

पाठक, आश्चर्य न करो। ग्यारह-बारह वर्ष की बालिका है तो क्या—वह भी स्त्री है। और स्त्रीत्व किसने जाना है ? न इसे स्त्रियाँ हीं जानती हैं और न स्त्रीत्व के पण्डित पुरुष ही ! स्त्री इसके वश होकर क्या-क्या खेल कर जा सकती है—सो वह स्वयं ही नहीं जानती। खबरदार रहे वह, जो इसे समझने का साहस करता है ! और वह जो इससे खिलवाड़ करने की ढीठता करता है।—उसके मालिक बस भगवान हैं ! वह चाहे स्त्री हो या पुरुष !

उस उम्र में ही मैंने यह सोचना शुरू कर दिया—मैं शशि से किस तरह कम हूं ? उस बिचारी भोली-भाली, अबोध शशि पर मुझे दया आती थी। पर वह क्यों खींचती है ?—उसके इस अपराध ने मुझे उससे अपनी तुलना करने के लिए बाध्य कर दिया। हाय, ईर्ष्या की विडम्बना !

मैं इस विडम्बना की बात नहीं कहूँगी। मैं अबसे अपने बालों की, अपने कपड़ों की, अपने चलने की, बोलने की, हँसने की—सबकी ओर साधारण से ज्यादा ध्यान रखने लगी।

बचपन की इन निर्दोष बातों को स्वच्छ निर्दोषिता में आते हुए किशोर-वय के रस ने कुछ मैलापन ला दिया था क्या ? कोई मुझसे पूछे, तो मैं कहूँगी, नहीं ! सब कुछ होते हुए भी यह चीज उसी भूख का एक रूप थी—जो छोटे से छोटे बालक में रंग-बिरंगी मिठाई के लिए होती है।

मेरे उस जीवन की और भी बहुत सी बातें हैं। बहुतेरी बहुत-ही अद्भुत हैं। पर इस कहानी से सम्बन्ध न होने के कारण, मैं उन्हें नहीं लिखूँगी। मेरी बहुत-सी साथिनें थीं, बहुत से साथी थे। हम सब किस तरह जिन्दगी के पल पल को भविष्यत से खींचकर, वर्तमान में

उनसे पूरा रस लेकर, उन्हें भूत पर फेंक देते थे ! किस तरह हमें भूत डरा नहीं सकता था, भविष्यत ललचा नहीं सकता था, और किस तरह हम सर्वथा उसे मनाते हुए वर्तमान पर और बस उसी के लिए रहते थे !—उसकी बहुत सी कथायें हैं, पर उन्हें रोक रखना होगा।

समय गया—और मैं शाला में आठवें दर्जे में आ पहुँची। सतीश और नवीन दोनों कॉलेज में चले गये थे। यहाँ मेरा चौदहवाँ साल लग गया।

चौदहवाँ साल ! बाला का चौदहवाँ साल !! क्या इस की कल्पना पाठक को है ? नहीं, तो मैं बता न सकूँगी। यह साल, बालिका के लिए स्वप्न काल का साल है।

मैंने सुना, मेरे ब्याह की तैयारियाँ हो रही हैं—और मेरा वह स्वप्न संसार कड़वा हो गया।

२

मेरा ब्याह हो गया। शशि के भाई के साथ मेरा ग्रन्थिबन्धन, मेरा भाग्य-बन्धन, हो गया। एक दिन में मैं न कुछ से गृहिणी बन गई।—बालिका से स्त्री बन गई ! बालिका से मैंने मातृत्व के सौभाग्य द्वार में प्रवेश किया। स्वच्छन्द खेल के क्षेत्र से मैं जेल की तंग कोठरी में आई। निर्बाध निर्बन्धता के बाद मेरे सिर पर घर की जिम्मेदारी पड़ी। अपने बचपन के घर से मैं अज्ञात घर में आई। चौदह वर्ष की होते न होते मैं पत्नी बनी।

ब्याह की कहानी मैं क्या सुनाऊँ ? आठ बरस की भी बधू—अगर

यह कह सके तो—उसे ज्यादे अच्छी तरह कह सकेगी। वह सच्चे 'कन्या-दान' की कहानी है।

मैं विदा होने को हुई, तो माँ की गोद में फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय मुझे मालूम हुआ—मैं माँ को कितना प्यार करती थी। माँ का सारा प्यार आँखों की राह पानी बनकर आशीर्वाद की तरह मेरे ऊपर गिर रहा था। मुझे क्या मालूम था, माँ हमारे लिए अपनी और जरूरत न पाकर हमसे विदा ले लेने की अब तैयारी में लग जाने को है? दुनिया में जितना प्यार उन्हें मिला था, वह सब उन्हें यहीं खत्म कर देना था। माँ के अब मुझे दर्शन न होने थे। मेरी यह अन्तिम भेंट थी।

मुझे बतलाया गया है, मैं जब बीमार पड़ी थी, माँ मुझे देखने आई थी। मैं बेहोश थी। क्षण भर होश पाकर मैं उन्हें पहिचान तो सकी थी, पर फिर तुरन्त बेहोश हो गई थी। माँ मुझे देखने के बाद जब घर लौटी, तो उनकी अवस्था ठीक न थी। वह खाट पकड़ रहीं। अगले दिन उन्हें विशूचिका हो गई। तीन रोज तक हँसती हुई इस यातना को सहकर माँ ईश्वर की गोद में जा रहीं।

सतीश ने आंसुओं के बीच में मुझे न जाने कितनी बार माँ की इहलोक संवरण लीला सुनाई है। माँ पूरे होश में यहाँ से गईं, और ऐसे गईं—मानों, उन्हें यहाँ की खाट से किसी दूसरी बिछी बिछाई सेज पर जा लेटना है।

सतीश की यह बात मेरी समझ में नहीं आई। पाठकों को मैं उसे सुना देना चाहती हूँ। अन्तिम अवसान से पहले रोज माँ ने जब सो कर आँख खोली, सतीश माँ की खाट पर सिर टिकाये उनकी ओर देख रहा था।

माँ ने सतीश के सिर पर हाथ फेरा, और संकेत से अपने पास ही खाट पर बैठने को कहा।

सतीश जा बैठा। माँ ने कहा—"अपनी माँ को याद रक्खेगा

बेटा ?"

सतीश अब तक रुका हुआ था, अब उसका सुबकना शुरू हो गया।

माँ ने कहा—"सतीश बेटा, मेरे भाग में बहुत दुख बदा है। पर दुख बुरा नहीं है, बेटा! दुख में से ही होकर ईश्वर का मार्ग गया है।"

सतीश सुन रहा था और सुबक रहा था।

माँ ने कहना आरम्भ किया—"तेरी माँ जा रही है—सदा के लिए जा रही है। माँ की एक बात मानेगा? बेटा, देख, नवीन का तू कोई अनिष्ट मत करियो।"

सतीश रो रहा था। उसे अचरज हुआ। बोला—"माँ, नवीन को मैं हृदय से पूजता हूं।"

माँ बोली—"मैं जानती हूँ; बेटा। पर मेरी बात याद रखियो।"

सतीश ने कहा—"माँ, मैं तुम्हें वचन देता हूँ।"

मां—"अरे नहीं; वचन-उचन कुछ नहीं। वचन मैं तुमसे कब माँगती हूँ? वचन के बाद तू दुखी रहेगा। पर परमात्मा जो करेगा, अच्छा ही होगा।"

सतीश अपने से कष्ट पा रहा था। उसने इस कष्ट से उबरते हुए कहा—"माँ, तुम समझती हो, मुझसे नवीन का अनिष्ट हो सकेगा?"

माँ बोली—"बेटा, मैं समझती तो हूँ पर परमात्मा भला ही करेगा।"

माँ ने फिर कहा—"बेटा, एक बात तू भी याद रखियो, धरिणी से भी कह दीजो। पाप बुरा नहीं है, पाप में अहङ्कार बुरा है। जो बुरा बन पड़े, उसे परमात्मा के आगे सच्चे जी से रखकर क्षमा मांगने से, परमात्मा अवश्य क्षमा करते हैं। परमात्मा विश्व के सारे पाप को अपने कण्ठ में रख लेना चाहते हैं। वह पापी के उबारने को तरसते रहते हैं। —पर बेटा, पाप में अहङ्कार बुरा है।.........तू याद रक्खेगा न?

धरिणी से भी कह दीजो, उसके लिए मेरी यही कहन है।"

थोड़ी देर के बाद माँ फिर बोली—

"लोग कहते हैं, मैंने तुम्हें बिगाड़ दिया है। पर, परमात्मा जानता है—मैंने तुम्हें 'तुम' बने रहने देकर तुम्हारा उपकार किया है या अपकार? जबर्दस्ती की साधुता मैंने तुम्हें नहीं सिखलाई—परमात्मा इसके लिए मुझ से नाराज नहीं होगा। शायद एक दिन तुम भी समझो—यही ठीक था।"

माँ इसके बाद चुप होगईं। वह बहुत ही ज्यादह थक गईं थीं।

अगले रोज ही माँ, मेरी माँ, अन्तर्द्धान कर गईं। पिता की चरण रज लेकर, हमको अनाथ छोड़ कर, और पिता को निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द करके, ओ विज्ञानवादियों! बताओगे—मेरी मां कहां चली गईं?

मेरे स्वस्थ होने पर जब सतीश ने मेरी मां के फोटो की एल्बम्, तमगे, और जड़ी तस्वीरें लाके दीं, और सुनाया 'मेरी माँ' मुझे अब न मिलेगी, और मेरे लिए उन चीजों को छोड़ गई है -तो मैं उसका गला पकड़कर जी भर कर रोई।

इसके कुछ ही दिन बाद शशि के भाई का देहावसान हो गया। मेरे घर आने के कोई तीन महीने बाद से ही वह खाट पर गिर पड़े थे। कीमती से कीमती चिकित्सा हुई, पर वह उन्हें स्वस्थ न कर सकीं। जो कुछ वह खो चुके थे, बड़ी-से-बड़ी दवाएँ वह उन्हें लौटा के न दे सकीं। पुरुषत्व खोकर उन्होंने पंचत्व पाया।

मुझसे छिपा न रह सका। उनकी मृत्यु से मेरे भाग्य का कुछ अविच्छेद सम्बन्ध है। उनके साथ मुझे अपनी माँ का घर छोड़कर इस घर में आना पड़ा—हमारा सम्बन्ध केवल इतना ही नहीं था, इससे भी ज्यादे कुछ था। वह ज्यादे क्या था, उनकी मृत्यु के बहुत-बहुत बाद मैं जान सकी। मेरे यहाँ आने से उनके जीवन के अन्त तक, मुझसे उनका जब-जब साक्षात्कार हुआ, वह कुछ क्षणों तक ही हुआ था।

वह मुझसे ज्यादे बात कभी न करते। मैं उनसे डरती थी। इससे मुझे उनसे बोलने के साहस की बात सूझती भी न थी।

अपना विधवापन मुझपर कब चमका—इसकी भी कथा तो कहनी होगी। जब कहना ही होगा—तो कहूँगी; हिचकूँगी नहीं।

ब्याह के आठ महीने के भीतर-ही-भीतर मैं मातृ-विहीना और विधवा हो गई। इसके लिए मैं समाज को कोसूँ, अपने भाग्य को कोसूँ, ईश्वर को कोसूँ—या, अपना सारा दुख ईश्वर के चरणों पर डालकर उसे धन्यवाद दूँ? मैं क्या करूँ—मैं कुछ नहीं जानती।

३

आप जानते हैं, मेरे जेठ का नाम सुन्दरलाल था। मेरे जेठ इस घर के बड़े थे, रक्षक थे, गुरु थे, देवता थे, सब-कुछ थे—ईश्वर थे। घर में हम पाँच जने थे—मैं, मेरी छोटी जिठानी, उनका आठ बरस का लड़का विनोद और वे दोनों भाई! हमारा घर बहुत बड़ा था और कई नौकर-चाकर थे।

इस घर में आने पर मुझे मानो दूसरे ही जल-वायु में आना पड़ा। हमारे यहाँ धार्मिक रीति पालन पर तनिक भी ख़याल नहीं दिया जाता था, यहाँ इस पर कड़ी निगाह रक्खी जाती थी। चौके के सभी नियमों का, संध्या-वन्दन का, व्रत-उपवास का, छूत-अछूत, स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य का बारीक ध्यान रक्खा जाता था।

मेरी जिठानी इनका बड़ी रुचि से पालन करती थीं। मेरी जिठानी बड़े सच्चे स्वभाव की स्त्री थीं। वह मुझ पर बड़ी बहिन की तरह प्यार करतीं। उनके निश्छल साधु-स्वभाव पर मुग्ध होकर मैं उनकी ही

हो रही थी। वह शास्त्र के पूरे अर्थों में पतिव्रता थीं। पति का नाम, ईश्वर के नाम के साथ वह माला पर जपा करतीं। वह पति को ईश्वर मानना अक्षरशः धर्म मानती थीं। और जब उनके प्रति अपने हृदय में श्रद्धा की तनिक अपूर्णता पाती, तो अपने को अधर्मी मानकर बड़ा कठिन दण्ड देती थीं। मेरी जिठानी लक्ष्मी-स्वरूपिणी थीं। वह, बड़ी सुन्दर थीं, पर उस सुन्दरता पर आधुनिकता का लावण्य नहीं था। लेकिन उस सुन्दरता में नवनीत के समान सरल, सहज विनम्रता की परिमल कोमलता छायी हुई थी। मुझे तो वह बड़ी लुभावनी जान पड़ती थीं।

जेठ इन बातों से अप्रसन्न नहीं थे। पर वह शायद क्रियाशील, चपल कटाक्ष पर सुन्दरता चाहते थे। वह उन्हें बड़े स्नेह से मिलते थे। पर मानो, वह और कुछ-ही चाहते थे, जिसे वह कह न सकते थे। मेरे जेठ बड़े सद्-शील मनुष्य थे। मुझे विश्वास नहीं, अपने छोटे भाई के बीमार पड़ने तक उन्होंने मुझे कभी-भी देखा होगा। जहाँ मैं होती, वे वहाँ कभी पैर न रखते। मेरी गन्ध पाकर वह कोने में हो रहते। भोजन करते समय, मुझे रसोई में पाकर वह थाली से सिर उठाते ही न थे। घूँघट पर से उनकी श्रद्धा नहीं हटी थी। और मेरे लिए उनका जिठानीजी को हुक्म था—घूँघट की मर्यादा मुझे भूल न जानी चाहिये।

जेठ सुन्दर थे, बड़े हँस-मुख थे, बड़े मिष्ट-भाषी थे। वह गुस्सा बहुत कम करते थे। पर जब करते थे, तो उन का गुस्सा बेढब होता था। वह जलता हुआ न होता था, घुना हुआ होता था। क्रोध को वह मन में घोट जाते, और उस पर भीतर-ही-भीतर घुनते रहते। जब वह क्रोध निकलता था, निकल-जाकर चुप का नाम न लेता था। जिठानी, उनका यह स्वभाव जानती थीं—और मन-ही-मन उसके लिए रोज़ माला पर प्रार्थना भजती थीं। वह चाहती थीं, जेठ खूब गुस्सा किया करें, चाहे खुद उन्हीं पर क्यों न हों, जिससे उनका घुन्ना स्वभाव

जाता रहे।

एक क़िस्सा जिठानी ने मुझे यों सुनाया—

"उस मुहल्ले में हमारी जो जायदाद है, उसका एक किरायेदार आया। उसे बुलवाया गया था।

"उन्होंने कहा—"अगली एक तारीख़ तक बकाया किराया मिल जाना चाहिये।"

"उसने बहुत-सी अर्थ-संकट की बातें कहकर दस तारीख़ तक मुहलत चाही। मुहलत दे दी गई।

दस तारीख़ को वह नहीं पलटा। उसकी लड़की बीमार पड़ी थी। उसकी तीमारदारी में व्यस्त रहा। ग्यारह को आया, किराये का रुपया उसके पास नहीं था। उसने आजिज़ी जताकर पाँच दिन की छुट्टी और बख़्शीश चाही।

"बीस तारीख तक वह न आया। इक्कीस को कुछ जेवर लेकर वह हाज़िर हुआ। उसे कहला दिया गया—'उन्हें फुर्सत नहीं है।'

"पाँच रोज तक वह बराबर जेवर लेकर आता रहा। कभी आधा घण्टा, कभी चालीस मिनट प्रतिक्षा करके लौट जाता।

"फिर वह न आया—न आ सका।

"तीन महीने तक उसकी कुछ खबर न ली गई। उसने भी शायद चिंता छोड़ दी थी।

"तीस तारीख को वक़ील से सब मसौदा तैयार करवा लिया गया। पहिली तारीख को उसके पिछले रोज-तक के पाँच महीने के किराये के लिए नालिश ठोक दी गई। डिक्री मिल गई। सारी आजिजी फ़िजूल गई। रोना फ़िजूल गया, वकील के दाम फिजूल गये। रुपया लुटाने की सारी कोशिशें फ़िजूल गईं। भाग्य न टला। कुर्की हुई। किराये का रुपया वसूल हो सकता था—पर न हुआ; सब कुछ यार लोगों की जेब में पहुँचा। गरीब, भोले-भाले, सच्चे उस मजदूर को जेल में भेजा गया।

"उसकी स्त्री उसी मकान में रही, निकालने की कोई तदबीर नहीं की गई।"

"दो महीने की सजा काटकर जब वह बेचारा बाहर आया तो दो महीने के किराये की डिक्री तैयार थी। उसे फिर जेल में ठूँस दिया गया।"

"वह अब-तक जेल में है और, उसकी स्त्री उसी घर में रहती है।"

"मैं समझती हूँ—उनका, उसे रिहा होने देने का इरादा नहीं है।"

यह कहानी मैंने ज्यों-की-त्यों जिठानी के शब्दों में दी है। पर इसी तरह की कुछ बातों के अतिरिक्त जेठजी सद्व्यवहार के पुतले थे। इसमें सन्देह करने के लिए मुझे कोई स्थान न था।

धार्मिकता की ओर जो बातें मैंने कहीं, जेठजी उनमें भी आदर्श थे। नियम से वे संध्या करते, शास्त्र बांचते, और व्रत-शील होकर पर्वों में उचित विधान का पालन करते।

मैं इस घर में आई, तो स्वभावतः इन बातों में विश्वास हो चला। मुझसे बड़े लोग इनमें इतना समय देते हैं, हो ही कैसे सकता है, ये बातें आवश्यक और लाभदायक न हों। क्षुब्ध मन से मैं उनके पालन में लग गई; और इस में झूठ नहीं, मुझे उनमें एक तरह की शान्ति-ही मिलती। इन बातों में मैंने जेठजी को अपना आदर्श बनाया।

जेठजी को मैंने सब गुणों से मण्डित पाया और सब अशुद्धियों से विशुद्ध जाना। वह ध्यान-मग्न होते—मैं उन्हें देखती; बड़ा आनन्द पाती। जब रुग्ण-पति की परिचर्या से अवकाश पा सकती, जेठजी को एक बार कुशासन पर आसनस्थ ध्यान-निमग्न देखने के कौतूहल को अवश्य मिटाती। ऐसे ही, एक बार खिड़की में से मैं उन्हें देख रही थी, कि उन्होंने ध्यान भंग कर दिया। क्या समाधि समाप्त होने का रोज का समय आ पहुँचा है?

जेठजी ने कहा—"बहू !' और अन्दर जाने का संकेत किया।

मैं काँपते-काँपते अन्दर जा पहुंची।

जेठजी ने धीरे-से, बगैर काँपे, मेरा घूँघट ऊपर को सरका दिया। मैं शरमाई नहीं; हां डरी—थोड़ी-थोड़ी।

वे बोले—"अकेले में घूँघट करने की जरूरत नहीं रह जाती।"

मुँह मेरा ऊपर न उठ सका। मैं जानती थी वह मुझे देख रहे हैं। इससे साहस नहीं हुआ।

उन्होंने कहा—"इसमें लुक-छिपकर देखने की क्या बात है? तुम देखना चाहो, तो भीतर आ सकती हो। मुझे जब इसमें असुविधा होगी—मैं कह दूँगा।"

मैं दो-तीन मिनट तक वहाँ रही, फिर चली आई। उन्होने मुझे आने दिया—न रोका, न अनिच्छा प्रकट की।

पांच रोज तक मैं नहीं गई। समझ लो, कि अवकाश ही नहीं मिला। उनकी ओर से मुझे कुछ भी संकेत नहीं मिला—कि, उन्होंने इसकी पर्वाह भी की है।

तीन-चार महीने से मेरे इसी घर में रहने के बाद जो आज यह व्यापार हुआ है, उसके विषय में मैं अपने भीतर तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं करती थी। मैं समझती थी, इन सारे दिनों में से किसी दिन भी उन्हें मुझे इस तरह देखने का अधिकार था, जो उपयोग किया गया है। उसे मैं अपने प्रति उनकी उपेक्षा का परिणाम समझती थी। उन्होंने इतने ज्ञानी होकर, मुझ अबोधिनी की इतने दिनों बाद भी चिन्ता की—यह क्या थोड़ा अनुग्रह है।

इसमें कुछ अनौचित्य भी हो सकता है—इस धारणा की तो छाया तक मेरे मन में न उठी थी।

छठे रोज मैंने देखा, ठीक समय पर मैं खिड़की में झांकने को जा-ही पहुँची। वह, शीतलपाटी पर एक तकिया डाले लेटे हुए थे। बलात्—एक प्रश्न मन में उठा, क्या ध्यान समाप्त हो गया?

उन्होंने मुझे देखा। कहा—"आती हो? आ सकती हो?"

मैं गई। वह उठकर बैठ गये। मैं खड़ी होगई।

मेरे मन में प्रश्न डोल रहा था—यह जान लेना आश्चर्य की बात नहीं थी। उन्होंने कहा—"मैं रोज ही ध्यान करता हूँ—यह बात थोड़े-ही है। इस तरह का नियम तो शरीर और मन साधने के लिये है। इतना कर लेने पर नियम की पाबन्दी नहीं रहती;—नियम तुम्हारा पाबन्द हो जाता है।"

मैं चुप ही थी, उन्होंने कहा—"तुम तो जैसे मुझ से डरती हो। क्या तुम समझती हो, मैं बैठा-बैठा यही सोच रहा था? तुम आओगी और मैं तुम्हें खा जाऊँगा!"

ईश्वर के भवन में यह कैसी बात? मैं चुप रही—वह भी चुप हो रहे। कुछ देर बाद मैंने कहा—"जाती हूं।"

उन्होंने कहा—"जाओ, मैं कब कहता हूँ कि तुम आओ, या न जाओ।"

पहली बार मुझे लज्जा आई। "मुझे कौन बुलाता है, जो मैं आती हूं! अब न आऊँगी।"

मैं फिर न गई। तब से सुन्दरलाल आने-जाने में इतने सावधान न रह सके। मेरा सिर का कपड़ा सरकते-न-सरकते वह आ पहुँचते। मेरी कोठरी के पास से निकलना अब उन्हें वर्ज्य न था। एक-आध बार झाँक लेना भी सम्भव है किसी वस्तु के लिए हो जाता हो। पर मुझे कोई संकेत नहीं प्राप्त हुआ कि मुझे उस भवन में पहुंचना चाहिये। और मेरी उनमें श्रद्धा बहुत बढ़ गई!

इसके कुछ दिन बाद मैं बीमार पड़ गई। यह मेरी वही बीमारी थी, जो माँ की मौत का सन्देश लेकर आई थी। जिठानी ने मेरी कैसी शुश्रूषा की, पर वह जेठ की तत्पर, सकरुण, संलग्न सुश्रूषा को नहीं पहुंच सकती। ओह! मैं उनकी कृतज्ञ हो गई।

मैं चंगी हो उठी। इस बीच हमारे बीच का अन्तर बह गया। हम आपस में बोलते थे, हँसते थे, बहस करते थे। पर अब भी मैंने प्रकट में उनसे पर्दा करना न छोड़ा। उनकी ऐसी कभी आज्ञा नहीं हुई।

जिठानीजी, बीमारी की हालत में इस बढ़ती हुई घनिष्टता को देख सकी थीं, पर मेरी हालत को देखते हुए इसे क्षम्य ही नहीं, प्रत्युत उचित समझा। मेरे अच्छा होजाने के बाद भी यह घनिष्टता चलती ही रह सकती है —इसका उन्हें गुमान भी न था। पति पर पहरा देना उनका कभी स्वभाव न था। यदि उन्हें शंका के लिए जगह भी होती, तो भी वह पति की स्वछंदता में कभी अवरोधक न बनतीं। पति की सब वासनाओं के आगे—फिर चाहे वह शुभ हों या अशुभ—मार्ग दे देना, वरन् यदि हो तो उसके साफ कर देने में खुद मदद देना—उनका स्वभाव इसी वृत्ति पर गढ़ा गया था। तो, हमारा बढ़ता हुआ सम्बन्ध, उन तक न पहुँचा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

वह देवर के पास से अलग हटने के लिए अवकाश नहीं निकालना चाहती थीं। मुझे न शुश्रूषा प्रिय थी, और न जिठानी मेरे बीमारी से उठने के बाद मेरे हाथों रोगी की शुश्रूषा कराने के पक्ष में थीं।

मुझे बहुत-कुछ समय अपने-ही-आप काटना पड़ता था। ऐसे समय में जेठजी का सान्निध्य, जिसके ढूँढ़ने के लिए मुझे अभ्यास की जरूरत न पड़ती थी—मुझे बड़ा ही रुचिकर लगता था।

जेठ आये और मैं उनसे बातों में लग गई। पति मेरे मृत्यु-शय्या पर पड़े थे।

वे बोले—"कल तुमने कहा था; तुम्हारा नाम धरिणी है। धरिणी नाम तो बड़ा अच्छा है ?"

मैंने कहा—"क्यों अच्छा है ?"

उन्होंने कहा—"बड़ा मीठा लगता—इसलिऐ।"

मैंने पूछा—"अब आप ध्यान करते हैं, या नहीं ?"

सु०—"करना चाहता हूं—पर, करता नहीं।"

मैं०—"करना चाहते हैं, तो क्यों नहीं करते ?"

सु०—"जो चाहते हैं, सो क्या इतना सहज कर लिया जाता है ?"

मैं०—"पहिले भी तो करते ही थे।"

सु०—"हाँ, करता था। पहिले कर सकता था—अब नहीं कर सकता। पहले से अब में क्या अन्तर हुआ है—बताओ तो ?"

मैं—"कुछ भी तो नहीं।"

सु०—"अता-पता दूँ ? अन्तर पाँच फीट से ज्यादे का है !"

मैं पहली को बुझाने में लगी ही थी, कि उन्होंने मुझे कसके पकड़ कर चूम लिया। कहा—"यही तो अन्तर है।"

मैं सचमुच लजा गई। ग्यारह साल की उम्र में जो मुझे नवीन का चुम्बन मिला था, उसके बाद यह दूसरा चुम्बन था। वह शीतल था—यह अँगारे की तरह जल रहा था। इस जलन में विलक्षण स्वाद था !

हाँ, मैं कहूँगी, मुझे यह बहुत स्वादिष्ट लगा। क्योंकि मैं नहीं जानती थी कि वह मेरे अधिकार की वस्तु नहीं है। सुन्दरलाल को मैं अभी उस आदर्श से अलहिदा नहीं कर सकी थी। और उस आदर्श-पुरुष की इस कृपा को मैंने पूरी रुचि के साथ अपने सौभाग्य के रूप में स्वीकार किया।

जेठ फिर एक क्षण भी न ठहरे। वह चले गये। मैं उस अनिर्वचनीय सुख को, जो एक क्षण में मेरे सारे शरीर को कम्पित कर गया था, विह्वल हो रही।

अगले रोज सवेरे तीन बजे मेरे पति का देहान्त हो गया।

४

●●●

इतना मुझे यहाँ कह देना है कि वैधव्य से मुझमें कोई अन्तर नहीं पड़ा; नहीं पड़ने दिया गया। इतना जानने के अतिरिक्त कि एक व्यक्ति

जो हमारे ही कुटुम्ब में–से था, जिसके साथ मैं किसी खास सम्बन्ध में बँधी हुई थी, अब शेष नहीं है, मैंने और कुछ न जाना था। विवाह के दिन के सिवा मैंने कभी गहने नहीं पहने, और मुझे यह जानने का अवसर ही न आया, कि अब मैं चाहूँ तो भी आभूषण धारण करने का अधिकार नहीं रखती। कपड़े मैं सदा साफ और सफेद पहना करती और वही सदा पहिना भी। साधारण साज–सज्जा के लिये मुझे किसी ने नहीं टोका।

इससे विधवा होने पर भी मैं न जान सकी—मुझ पर वैधव्य टूट पड़ा है।

वैधव्य के कोई-दो महीने बाद एक दिन मैंने पाया—मैं भ्रष्ट हो चुकी हूँ। अपनी घनिष्टता को बढ़ते देख, कहा जा सकता है, मैं इसकी आशा कर रही थी। पर एक दिन अपने लिए 'भ्रष्ट' शब्द का उपयोग करना होगा—ऐसी सम्भावना मुझे कभी न थी। अधिकार-गर्व से रोमाञ्चित हो उठने के स्वप्न मैंने उस दिन के लिए रख छोड़े थे। मेरे वे स्वप्न निरर्थक न गये। मैंने उस दिन सचमुच अपने को अधिकार के सौभाग्य-शिखर पर पहुँची हुई अनुभव किया। मुझे तनिक भी भान नहीं था, जो–कुछ मुझसे माँग लिया गया है, और जो–कुछ दे दिया है—वह मुझे देय न था। वह मेरे पास था नहीं—पहले-ही वह एक के अर्पण हो चुका था। पर क्या वह भी न जानते थे कि उसे माँगने का, पाने का, और स्वीकार करने का उनको अधिकार न था!

उस रोज के तीसरे दिन जिठानी ने मुझे मिलने पर, व्यथा में बड़ी ग्लानि मिलाकर धीरे से कहा—'कलमुँही!'

मेरा माथा ठनका। पर मैंने बिना खेद और बड़े विस्मय से उनकी ओर देखा। मुझ में विस्मय देख, उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। पर कुछ क्षण देखने के बाद घृणा से उन्होंने मुँह फेर लिया।

अगले रोज जिठानी मायके चली गईं। विनोद को भी साथ ले गईं। घर, जान-बूझकर हमारे लिये निष्कण्टक छोड़ दिया गया।

पर उनका 'कलमुँही' मेरे सिर में चक्कर लगा रहा था। मुझे चैन न था। मैं बड़ी पीड़ा पा रही थी। कलमुँही ! तो क्या सचमुच गर्व-से फूलने की बात नहीं है ?—कलमुँहापन है ? पहली बात होती, तो जिठानी मेरे गर्व में आनन्द लेती। उन्होंने तो घृणा से मुँह फेर लिया। वह तो चली गईं।

'वह' शाम से ही मेरे पास आगये। मैं खिल न सकी, हँस न सकी। अभिवादन करने का भी ध्यान रहा।

उन्होंने कहा—"देवीजी नाराज हो क्या ?"

मैं—"कल जिठानी ने मुझे कलमुँही कहा था।"

वह चौंके। उन्हें लगा, जैसे उनके मायके जाने में कुछ भेद है।

वह बोले—"उसने कलमुँही ही कहा ? वह पगली है !"

मैंने पूछा—"वह घर छोड़कर चली क्यों गईं।"

उन्होंने कहा—"क्या आदमी अपनी माँ से मिलने नहीं जाता ?"

"जाता तो है, पर आठ-दस रोज बाद चली जातीं, तो क्या था ?"

"हाँ, तो कुछ नहीं। मैं कहता, तो शायद ठहर भी जातीं—पर मैंने ही कहके न देखा।"

मैंने पूछा—"जब तुम जानते थे, वह खुश होकर नहीं जा रहीं—तो तुमने कहा क्यों नहीं ?"

"मुझे क्या मालूम था, वह नाराज होकर जा रही हैं ?"

मैंने फिर पूछा—"मैं क्या कलमुँही हूँ ?"

"मुझे तो नहीं दीखता। तुम्हारा तो बड़ा गोरा मुख है।"

मैं—"तुम्हें मेरे सर की सौगन्ध। ठीक-ठीक बताओ—मैं कलमुँही हूँ ?"

सु०—मैंने कह तो दिया—तुम चाँद से भी ज्यादे गोरी हो !"

मैं—"मैं तुम से सच कहती हूँ—न बताओगे, तो बुरा होगा।"

उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया, और बोले—"अब पूछो, क्या पूछती हो ?"

मैं—"क्या मैं कलमुँही हूँ ?"

सु०—"मैं नहीं समझता, एक-दम तुम निरी-बच्ची हो ?"

मैं—"नहीं निरी-बच्ची नहीं हूँ। पर, क्या मैं कलमुँही हूं ?"

सु०—"तुम क्या समझती हो ?"

मैं—"नहीं समझती—तो, समझना चाहती हूं।"

सु०—"तो तुम समझती हो, तुम सीता हो ?"

मैं—"नहीं, पर मैं कलमुँही कैसे हो सकती हूँ ?"

सु०—"यह तो मैं भी कहता हूँ, सुन्दर मुँह वाले का मुँह इतनी जल्दी काला नहीं हो सकता। पर तुम इतनी भोली नहीं हो—क्यों वृथा यह तमाशा कर रही हो ?'

यह कहकर ज्योंही मुझे पकड़ना चाहा—मैं अलग हटकर खड़ी हो गई। हँसकर उन्होंने कहा—"ओ हो। बड़ी सती-सतवन्ती हैं ? तो आप समझती हैं—आपने अब तक बड़ा पुण्य-कार्य किया है ?"

अब समझने के लिए मुझे और क्या सुनना बाकी था ? पर मुझे सुनना पड़ा।

"सुनती हैं, आप ? आप कलमुँही हैं तो क्या—आप बड़ी सुन्दर हैं—बड़ी अच्छी हैं। आपके मुँह को देखकर आपको कलमुँही कहते मुझे शर्म आती है।"

मेरी ऊबती हुई ग्लानि पिघल गई। मैंने गिरकर, हाथ जोड़कर कहा—"अब जाओ, बड़ी कृपा होगी।"

जाते-जाते उन्होंने कहा—"मैं जाता हूँ। पर चित्त की ऐसी अवस्था में कुछ खा-पीकर लेट रहना अच्छा होता है। मैं समझता हूँ—कल तक तुम स्वस्थ हो लोगी। मैं नहीं आऊँगा।"

वह गये और मैं खाट पर लेट रही।

इसने मुझे सोचने की आवश्यकता में डाला। अब तक मैं सोचने के काम को दूसरों से कराकर सन्तुष्ट हो लेती थी। बनी-बनाई रायों और धारणाओं को मान लेने से सोचने की इल्लत से मुक्ति मिल जाती है।

और मैंने कुछ अपनी निज की राय बनाने का कष्ट कभी न उठाया। यह जो दुर्घटना घटित हो गई थी, उसे मैं भूलने लगी, अपनी उठती हुई ग्लानि को भी मैंने खतम किया और उसकी याद को मिटाने की चेष्टा करने लगी।

अगले रोज जब सुन्दरलाल पधारे, उन्होंने देखा—मैंने एक जीत पा ली है। ग्लानि में मैं नहीं बुझ रही हूँ, पर उस से ऊपर उठ गई हूँ। उन्हें इससे ढाढ़स बँधा। बोले—"तुम्हें स्वस्थ देखकर मुझे प्रसन्नता है।"

मैंने कहा—"मेरे स्वास्थ्य के बारे में आपकी चिन्ता के बगैर क्या मैं स्वस्थ रह ही नहीं सकती ?"

सु०—"पर मैं तो अपनी चिन्ता नहीं रोक सकता।......"

मैं—"अच्छा हो, अब से आप रोकने का ध्यान रक्खें।"

सु०—"धरिणी, यह क्या ? यह तुम्हें क्या हो रहा है ?"

मैं—"जो कुछ हुआ, सो हुआ, मैं अब आपको यहाँ नहीं देखना चाहती।"

सु०—"धरिणी, क्या तुम मुझसे यह कहना चाहती हो कि तुम यह पहिले से नहीं जानती थीं; कल समझी हो ?"

मैं—"आप कृपा कीजिये—जाइये।"

सु०—"देखो धरिणी, इन नखरों की भी हद होती है।"

मैं—"तो नहीं जाओगे तुम ?"

सु०—"जाऊँगा तो, पर तुम्हें ऐसे छोड़कर कैसे जाऊँगा ?"

मैं—"ऐसे छोड़कर नहीं जाओगे, तो क्या मारकर जाओगे ?"

सु०—"धरिणी, तुम क्या कह रही हो ?"

"मैं कह रही हूँ कि तुम दुष्ट हो, मैं दुष्ट नहीं हूँ।"

सुन्दरलाल यहाँ पर हँसे—राक्षसी हँसी हँसे। बोले—"यह तो कोई नई बात नहीं है। जब आप झाँकती थीं—मुझे क्या मालूम था, विशुद्धा दमयन्ती, दुष्ट के दर्शन करने आ रही हैं ! आदमी सदा दुष्ट है,

स्त्री सदा लाज की प्रतिमा है।"

मैंने कहा—"हाँ, तुम सदा दुष्ट थे, और मैं सदा लाज की प्रतिमा थी।"

सुन्दरलाल ने फिर ठट्टा लगाकर कहा—"हाँ, मैं भी तो कहता हूँ, आप देवी थीं, और दुष्ट को थोड़ा प्रसन्न करने के लिए इधर खिंच आई थीं।"

मेरी इच्छा हुई, मैं मूर्छा खा जाऊँ। पर मूर्छा ने हुक्म न माना। मैं पूछ बैठी—"तो तुम्हारी संध्या-वंध्या सब ढोंग थी?"

सुन्दरलाल ने चमककर कहा—"कौन कहता है, ढोंग थी? अपने दिल को भी तो मैं यह बात नहीं मानने देता!"

मैं—"अपने दिल को भी यह नहीं मानने देते?—तो सचमुच तुम बधाई के पात्र हो।"

सु०—"सो तुम मुझ पर दया करती हो?"

मैं—"नहीं। यदि तुम दिल में ढोंग मान लेते और फिर भी ढोंग करते ही जाते—तो जरूर मैं दया करती। पर तुम ढोंग करते हो, और दिल को बिगड़ने नहीं देते—इस प्रकृष्टता पर मैं तुम्हारी प्रशंसा करती हूँ।"

सु०—"मैं भी कभी-कभी इस पर अपनी प्रशंसा करता हूँ।"

मैं—"तुम प्रशंसा करते हो?"

सु०—"हाँ; क्यों?"

मैं—"तो मैं तुम्हें डराती हूँ।"

सु०—"तुम मुझ से नाराज नहीं हो?"

मैं—"नाराज नहीं हूँ—मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ। पर, मैं तुम से भय खाती हूँ।"

सु०—"मुझे तुम क्षमा न करोगी?"

मैं—"ओ, तुम क्षमा नहीं चाहते—तुम अपने को धोखा दे रहे हो।"

सु०—"हाँ, मैं अपने को धोखा दे रहा हूँ। मैं क्षमा नहीं चाहता। क्षमा की बात ही क्या है? पर तुम एक रोज में यह सब कैसे समझने लग गईं?"

मैं—"समझना कुछ कठिन नहीं है। पहिले मैं शायद समझना नहीं चाहती थी—इसी से नहीं समझती थी।"

सु०—"अब तुम क्या समझती हो?"

मैं—"यह समझती हूँ कि अब मैं तुम्हारे वश से बाहर की चीज हो गई हूं।"

सु०—"मैं जाता हूँ। पर क्या तुम मुझसे आशा छोड़ने के लिए कहती हो?"

मैं—"कहती तो हूँ—पर तुम छोड़ोगे नहीं।"

सु०—"नहीं, आशा मैं नहीं छोड़ूँगा। क्योंकि मैं तुम्हें न देवी मानता हूँ और न मूर्ख।"

वह चले गये, और उन्होंने आशा न छोड़ी। इतनी आसानी से एक बार पाकर मुझे वह नहीं छोड़ना चाहते थे। उन्होंने कोई तरकीब उठा न रक्खी। 'साम-दाम-दण्ड भेद'—जैसे हो, अपने हाथ से मुझे निकलने देना वह नहीं चाहते थे। पर, उन किस्सों को मैं यहाँ नहीं सुनाना चाहती। सुन्दरलाल के कमीने पन पर अपना वक्त गँवाना बुद्धिमत्ता नहीं।

पर थोड़े दिनों में जो लक्षण मुझे दीखने लगे, उनसे मेरी चिन्ता बढ़ी। भूत, परिणाम के कारण, वर्तमान और भविष्यत् से असम्बद्ध नहीं है। इससे भूत सर्वथा नष्ट नहीं होता; वह वर्तमान रहता है। मैंने देखा—भूत अपने परिणाम में वर्तमान में उपस्थित है। मैं घबड़ाई क्या मुझे माता बनना होगा?

लक्षण बहुत दिनों तक सुन्दरलाल से भी छिपे न रहे। वह खुश हुए। भाग्य को उन्होंने धन्यवाद दिया। इतनी असफलताओं के बाद, उन्हें एक साधन हाथ आया। जिसमें वह निश्चित सफलता देखते थे। हा

विधि ! वह इससे घबराए नहीं—उल्टे प्रसन्न हुए। वह कितने 'पापवादी' थे।

५

●●●

डाक्टर मेरी सुध लेने आए ! मैंने उन्हें भगा दिया। दूसरे रोज आये, फिर भी टिकने न दिया। जब तीसरे रोज आये, तो मुझे उन पर दया आ गई। वह मेरी तेज बातों से चिढ़कर जा ही रहे थे, कि मैंने कहा—

"डाक्टर साहब, आप व्यर्थ की इतनी हैरानी क्यों कर रहे हैं ?"

"सुन्दरलाल ने कहा है, मुझे आपको देखने की जरूरत है। मगर डाक्टर हैरानी करे, और मरीज उसकी हैरानी से भी फायदा उठाए—यह तो मैंने आपके ही बारे में देखा है।"

मैं—"देखिये डाक्टर साहब, आप भले आदमी हैं। सच कहिये, क्या आपको शर्म नहीं आती ?"

डा०—"मुझे कहना पड़ता है, शर्म को आपने समझने की कोशिश नहीं की। शर्म एक चीज है, शर्म का काम दूसरी चीज ! एक से दूसरे का बिल्कुल सम्बन्ध नहीं। साधारण से साधारण काम में एक को शर्म आ सकती है, दूसरे को शर्मनाक से शर्मनाक काम कर डालने में शर्म का भाव भी सताने नहीं पाता। शर्म, रिवाज से सम्बन्ध नहीं रखती। शर्म का काम रिवाज पर निर्भर रहकर बनता है। शर्म का काम, बाहरी बातें तै करती हैं। यदि कोई काम साधारण हो पड़े, तो वह शर्म का नहीं रह जाता। असाधारण काम हमेशा शर्म का होता है। और शर्म जो भीतर से उठती है, स्वभाव की कमजोरी है। न डाक्टरों में वैसी

स्वभाव की कमजोरी रहती है, और न उनके इस काम के सम्बन्ध में अब असाधारणता की भावना रह गई है। इससे मेरे लिए शर्म का कोई बहाना नहीं। पर मैं आप से पूछूँ—आपको क्या इस तरह की बात करने में शर्म नहीं आती ?"

मैं—"मैं शर्म में विश्वास करती हूँ, पर उसके मौकों में भी विश्वास करती हूँ। यह उसका मौका नहीं है।"

डा०—"यह नहीं है पर 'वह' तो था।"

मैं—"डाक्टर साहब, अगर आप इस तरह गाली देना शुरू करेंगे, तो अभी आपको चले जाना होगा।"

डा०—"क्षमा करें। मैं आपको नाराज नहीं करना चाहता। मुतलक नहीं। पर मैं सोचता हूँ, शर्म का उपयोग पाप में गिरने के लिए तो होता ही है, पाप में न गिरने के लिए भी तो उसका उपयोग किया जा सकता है। सो आज-कल क्यों नहीं दीखता ?

मैं—"अगर आप चले न जायेंगे; तो मैं नहीं जानती, मैं आपको क्या-क्या कह बैठूँगी ?"

डा०—"मैं चला जाऊँगा। पर क्या मैं आपकी कुछ सहायता नहीं कर सकता ?"

मैं—"डाक्टर साहब, आप बड़े अच्छे आदमी हैं। मैं आपसे नाराज नहीं हूँ। आप देखते हैं—मैं अपने से ही नाराज हूं। इसी से सब से नाराज हो उठना चाहती हूँ। बताइये, डाक्टर साहब, क्या आप मुझ पर दया करते हैं ?"

डा०—"दया करता हूँ या नहीं—ज्यादेतर मुझे यह जानने की फुर्सत नहीं रहती। पर देखता हूं, आप पर दया करनी ही होगी।"

मैं—"क्यों ?"

डा०—"क्योंकि आप मेरी सहायता से लाभ नहीं उठाना चाहतीं। इसलिए। अर्थात् आप अपने पर दया नहीं करना चाहतीं, इसलिए।"

मैं—"डॉक्टर साहब, आप जानते हैं, मैं आपकी दया कितनी

चाहती हूँ ? आप सहृदय पुरुष हैं, आप उसे देंगे—लौटायेंगे नहीं, तो बड़ी दया होगी, आप मुझे कोई दवाई न दें, किसी तरह की कोई दवाई न दी जाने दें। आप करेंगे ?"

डॉक्टर साहब इस विनय से हिल गये। उन्होंने हिले हुए स्वर में कहा—"आपकी बात बड़ी कठिन है। जितनी तपस्यायें मैंने सुनी हैं, उनमें से कठिन-से-कठिन के बराबर यह कठिन है। फिर सोचिये, आप क्या इस कठिन बात को उठाने की मूर्खता करना चाहती हैं ? क्योंकि एक अपने सम्बन्ध की कलुषित बात को अपने ही प्रयत्न से जग-जाहिर करना सरासर मूर्खता है।"

मैं—"डॉक्टर साहब, पाप में एक बड़ा भारी डंक है। और वह है—शरीर-सुख ! पाप इसी डंक से सब को काटता है। पर परमात्मा उसी जीव में उस जीव-दर्शन का उतार भी धर देता है। पाप के साथ एक परिणाम चलता है। उस परिणाम का उपयोग करने से पाप की कटुता उतर जाती है। उस परिणाम से बच जाने से पाप का जहर चढ़ता जाता है ! उस परिणाम का उपभोग करना—डॉक्टर साहब ! क्या मूर्खता है ?"

डॉ०—"मुझे सदा जघन्यताओं से काम पड़ता है। मेरा व्यवसाय ही ऐसा है। पर जघन्यता में भी मुझे आपकी ऐसी प्रकृष्टता के दर्शन होंगे—मुझे ऐसी आशा न थी। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, आपकी आज्ञा का उल्लंघन मैं न कर सकूँगा।"

डॉक्टर चले गये। उन डॉक्टर का मुझे सदा स्मरण रहेगा। बहुत थोड़े समय में ही वह मेरी आत्मा देख सके, और मेरे शुभ-व्रत में सहायता देने का उन्होंने व्रत ले लिया।

सुन्दरलाल डॉक्टर के साथ अधिकतर न आते थे। डॉक्टर की चतुरता को मेरी हठसे निबटने के लिए छोड़ देने के पक्ष में उनके पास कई कारण थे। ऐसे समय में वह अपनी घनिष्टता को सामने लाकर उससे अनिष्ट की आशंका करते थे। उससे डॉक्टर मेरे पास अकेले ही

आते। सुन्दरलाल न आते—और, बाहर कमरे में डाक्टर की प्रतीक्षा में बैठे रहते।

डॉक्टर के जाने के बाद मैं भी बाहर आई। और डॉक्टर के लिए सुन्दरलाल का 'हल्लो, डाक्टर!' सुनकर, और कुछ सुनने के लिए कमरे की दीवार से सटकर खड़ी हो रही। जो-कुछ मैं सुन पाई, इस तरह था—

सु०—"तुम भी क्या इस तरह औरत की बहक में आ जाते हो?"

डॉ०—"नहीं, औरत की बहक में नहीं, अपनी ही बहक में आगया हूँ। हाँ, मेरे साथ अक्सर ऐसा नहीं होता! ख़ैर, मैं तुम्हारा काम न कर सकूँगा।"

सु०—"देखो डॉक्टर, मैं यथेष्ट धनशाली हूँ। तुम मेरा काम करोगे, मैं रुपये से तुम्हें खुश कर सकूँगा। मैं कुछ भी हूँ, पर ऐसी बातों में सच्चा हूँ। क्या तुम मेरी बात का विश्वास नहीं करते?"

डॉ०—"तुम्हारी बात पर विश्वास लाने का मुझे क्या कारण है?"

सु०—"देखो, इतना मैं तुम्हें देने को इसी समय तैयार हूँ। काम हो जाने पर इतना ही और..........!"

डॉ०—"ऊँ....ह...! एक हजार अब, एक हजार फिर। कुछ कम तो नहीं हैं। पर मुझे करना क्या होगा?"

सु०—"कोई भी तेज़, बहुत तेज दवा उसके पेट में पहुँचा देनी—बस—!"

डॉ०—"सच यह है, मेरी हिम्मत नहीं होती। ऐसे, बहुतेरे ही केस हाथ से निकल चुके हैं।—कभी दिल ने आवाज नहीं दी। पर वह औरत—वह तो कुछ और-ही है। उसके बारे में दिल ठिठक रहा है। शायद, मुझसे काम न हो सकेगा।"

सु०—"सोच देखो, मुझे तो और डाक्टर मिल जायेंगे, पर तुम्हें दो हजार सहज हाथ न लगेंगे। तुमसे काम कराकर मैं बे-खटके हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ—तब बात अपने ही कानों में है। इसी से यह

बात है—पर तुम्हें उज्र हो तो……।"

डॉ०—"लेकिन तुम इतना रुपया भी क्यों फूँकते हो? उसे निकाल बाहर ही क्यों नहीं करते? तुम्हारे अपनी औरत है; और फिर वह कम खूबसूरत भी नहीं है। तब, तुम्हें क्या डर है?"

सु०—"डर तो है—और बहुत बड़ा। पहली बात—मेरी औरत मुझसे जलती है, और वह कितनी-ही साध्वी हो; है औरत ही। मुँह सिला रख सकेगी—ऐसी मुझे उम्मीद नहीं! फिर यह है, कि मैं उसे अलहदा कर देना नहीं चाहता। मैंने अभी पाया ही क्या है—यही गुनाह-बे-लज्जत! पर वहाँ तो गुनाह भी न हो पाया, कि बे-लज्जती शुरू हो गई।"

डॉ०—"पर मैं तुम्हें कहे रखता हूँ—तुम्मारी उमीदें हवा में चिनी जा रही हैं। मुझे ताज्जुब है, वह औरत तुम्हारी गिरफ्त में आ कैसे गई!"

सु०—"अरे, डाक्टर! तुम बड़े भूलते हो। तुम उसके भोलेपन में आगये! औरत हमेशा औरत होती है, और भोलापन हमेशा उसकी अदा! तुमने क्या उसे देवी का अवतार मान लिया?"

डॉ०—"मैं नहीं, तुम्हीं भूलते हो। वह देवी नहीं वक्त पर देवी से भी कठिन साबित हो सकती है।"

सु०—"ख़ैर, यह मेरा काम है, और मैं अपने काम में कुछ कम नहीं हूँ। तुम बोलो—तुम काम का अपना हिस्सा कर सकते हो?—तुम्हारे हिस्से का आधा फायदा यह है।—बोलो—और लो।"

डॉ०—"नहीं, मैं यह नहीं ले सकता।—मुझसे तुम्हारा काम न होगा।"

इतना कहकर डाक्टर को चले जाते मैंने सुना। सुन्दरलाल न उठे। उन्हें यह सम्भव नहीं लगता था कि दिल के जरा फुसलाने से पर एक आदमी सौ-सौ के ऐसे ताजे नये, रंगीन नोट छोड़ जा सकता है!

६

और क्या ? उनका ही सोचना सच था। क्योंकि कुछ देर में ही डॉक्टर फिर-से कमरे में प्रवेश करते सुन पड़े। उन्होंने आते ही कहा— "लाइये, रुपये दीजिये। मैं खाम-ख्वाह बेवक़ूफ़ बना !"

रुपये शायद मिल गये; और वह चल दिये। मैं अपनी जगह से हटकर अपने कमरे में चली आई।

सुन्दरलाल से मुझे रोज ही मिलना होता।—और मैं बिना खटके मिलती। उनके साथ का मेरा समय बड़ा-ही दुश्चिन्ता का होता था। पर मैं किसी खटके को हृदय में स्थान न देती थी। मैं पूरी बे-फ़िक्री के साथ मिलती। जैसे मुझे किसी की चिन्ता-ही नहीं है।—न अपनी न सुन्दरलाल की ! शायद, मेरे इसी आत्म-तुष्ट और निर्भीक आचरण के कारण सुन्दरलाल का साहस कुछ स्वतन्त्रता न ले सका। यदि मैं भयभीत-सी रहती, तो मुझे विश्वास है, सुन्दरलाल का साहस दुर्दान्त होजाता, और वह निकृष्ट-से-निकृष्ट पराकाष्ठा तक पहुँचते न हिचकता। पर मेरी निर्भीकता ने सुन्दरलाल के साहस को मार दिया। वह मुझसे ऐसा व्यवहार करते, जैसे वह मेरे पास कोई विनय लेकर आये हैं— और उसे निवेदन करने की आज्ञा के लिए मेरी भीख को तरस रहे हैं। मुझे मनुष्य की इस रिरियाती हुई पाशविकता पर कैसा खेद होता है—कैसी ग्लानि ! पशुता जो, बल पर खड़ी है, इस तरह पूँछ हिला-हिलाकर लार टपकाते हुए तुम्हारी जूतियाँ चाटने को सदा प्रस्तुत रहती है। सिंह का सिंहत्व, पशुत्व होते हुए भी, हमारी कामना की वस्तु

हैं।—क्योंकि उसमें सिंह-पन है 'कूकरता' नहीं। मनुष्य की इस कूकर-चाटुता के लिये उसे मैंने कितना धिक्कारा! कितना कोसा!!

सुन्दरलाल की उस अवस्था को याद करते हुए, मेरे मन में अब भी कितनी ग्लानि उठ आती है! मैं झिड़कती, और वह झिड़कियों को दाँत निकालकर सिर-माथे पर लेता। ऐसे समय उसे पूँछ क्यों न दे दी गई। जिससे शायद, उसे हिलती हुई देखकर मेरे मन में दया उठ पड़ती।

मुझे आश्चर्य है, वह मेरे साथ साहस के साथ बोल भी क्यों न सका! मैं सच कहती हूँ, सुन्दरलाल पर मुझे इतनी ग्लानि अपनी दशा के सम्बन्ध में न होती थी। ऐसी अवस्था में भी मैं व्यक्तित्व के दबंग-पन की कल्पना कर सकती हूँ। और पाठक, क्षमा करें, मैं उसे देखना चाहती हूँ। ऐसी अवस्था में भी मैं समझती हूँ, उसे सराहना के साथ देख सकती हूँ। पर जिसका नाम व्यक्तित्व है, वह सुन्दरलाल में बिलकुल न था। और उससे भी बड़ी बात यह थी, कि वह इसकी कमी को अनुभव ही न करता था।

अगले रोज से दवाई आनी शुरू हुई। पर, मैं उसे न पीती। धोखे से नहीं, खुल्लम-खुल्ला मैं उसे मोरी में उँडेल देती। सुन्दरलाल पूछता। मैं साफ कह देती—"मैं कह चुकी हूँ। मैं तुम्हारी दवा-ववा कुछ न पीऊँगी।"

सुन्दरलाल बोलता—"धरिणी, तुम क्यों मुझे मारती हो? तुम क्यों मुझे मिट्टी में लिथेड़ देना चाहती हो? तुम अपना नुकसान नहीं देखतीं, पर परमात्मा की खातिर मेरा तो जरा ख्याल रक्खो। मैं कहाँ का रह जाऊँगा?"

मैं कहती—"तुम मुझसे क्या चाहते हो?"

सुन्दरलाल उसी लहजे में कहता—"मुझे बस जिन्दा रहने दो?"

मैं—"तुम अपने आप जिन्दा नहीं रह सकते? दूसरे की भीख पर जिन्दा रहना चाहते हो—सो भी एक स्त्री की?"

सु०—"मैं तुमसे हजार आजिजी से कहता हूं—तुम दवा पीलो!

मेरी जिन्दगी और मेरा सुख इसी में है। तुम्हारी हठ में आखिर तुम्हारा ही क्या लाभ है ?"

मैं—"मेरी ऐसी हठ क्यों बनी ? मेरा उसमें क्या लाभ है ?—तुम-जैसा आदमी यह नहीं समझ सकता। उसमें मेरी हानि है—यही उसमें मेरा लाभ है। मैं सच कहती हूँ, तुम्हारी हानि मैं नहीं करना चाहती।"

सु०—"और कोई मार्ग क्या तुम नहीं सोच सकतीं, जिससे मेरी हानि बच जाय ? तुम तो अपनी हानि की नहीं परवाह करतीं न ? क्योंकि उसमें ही तुम्हारा लाभ है !"

विषय अवहेलना की विषमता से पार निकल जाने पर हँसी हो जाती है क्या ? मुझे थोड़ी हँसी आगई। सुन्दरलाल अपने मन की बात भी तो कह डालने में इतना डर रहा है—जबकि शायद वह बड़ी देर से उस बात को सोच रहा है।

मैंने कहा—"तुम खुलासा क्यों नहीं कहते—क्या चाहते हो ?"

सु०—"धरिणी, तुम बड़ी साहसी हो अगर तुम्हारा साहस कोई मार्ग तुम्हें सुझा सके, जिससे मेरी हानि की संभावना कट जाय—तो कैसा ?"

मुझे फिर वही हँसी आई ? क्या उसमें अपार ग्लानि की गन्ध सुन्दरलाल को नहीं आई ! मैंने कहा—"मैं तुम्हारी बात समझ गई। मैं उसे मान सकी, तो मानूँगी। यदि नहीं माना, तो यह साहस की कमी के कारण नहीं होगा वरन् तुम्हारी हित-कामना की गर्ज से। सुनते हो, समझते हो, ओ-जी, ओ धर्मावतार ! तुम्हारी सन्ध्या-पूजा जारी है या नहीं ?"

सु०—"धरिणी, तुम संसार को नहीं जानतीं। पूजा-सन्ध्या तो मेरे जीवन का अंश बन गये हैं। उनके बिना मैं कैसे स्थित रहूँगा ? तुम जानती हो, वह बिल्कुल फिजूल तो नहीं हैं। पर तुम मेरी हँसी उड़ाना चाहती हो।—तुम यह नहीं जानतीं, तुम्हारी हँसी मुझ तक

नहीं पहुंच पाती; उल्टे तुम पर ही गिरती है।"

मैं—"मैं जानती हूँ—अब तो बहुत-कुछ जानती हूँ। हाँ, तो आपका क्या सन्देश है, कि मुझे परमात्मा के पास पहुँचने की जल्दी करनी चाहिये ?"

सु०—"न—न—न धरिणी, मैं कभी भी ऐसा नहीं कहता। पर मैं रोकनेवाला कौन होता हूँ ? परमात्मा की आज्ञा तो होकर रहेगी ही ! मैं कौन चीज हूँ ? मेरा तो कहना यह है कि तुम दवा पी लिया करो। सच कहता हूँ,—ज़्यादे तुम्हारे हित के ख्याल से ही मैं ऐसा कहता हूँ। मैं तुम्हारे लिए क्या करने को तैयार हूँ ? पर दवा नहीं पीओगी, तो तुम्हीं जानो—तुम्हें क्या करना होगा।"

मैं—"मैं समझ गई, और अब आप छुट्टी लीजिये। आपकी सलाह मैं मानती हूँ, आपके लिये बड़ी-ही शुभ है। पर यदि मैं तय कर सकी कि वह मेरे लिये भी शुभ है, तो मैं उसे अवश्य ही शिरोधार्य करूँगी ! इतना क्या आपको खुश करने के लिये काफी नहीं है ?"

सु०—"नहीं, धरिणी, नहीं ! तुम मेरा कुछ का-कुछ मतलब मत समझ जाना। मैं तुम्हें सदा आँखों के आगे रखे रहना चाहता हूँ।"

मैं—"कण्टक के रूप में ?"

सु०—"आह !······धरिणी, अपने पर अन्याय न करना—मुझ पर भी न करना। धरिणी, तुम दवा पी सकतीं; तो कितना अच्छा था ?"

मैं—"अब आप बस चले जाइये। बहुत हुआ—अब आपको चल ही देना चाहिये।"

साहस हीन निस्सत्व वह पुरुष-पशु एक मिनट भी न ठहर सका। जो सलाह उसने मुझ पर फेंकी थी उसे समझने में मुझे बिल्कुल देर न लगी। वास्तव में उसके इस तरह फेंके जाने से पहले ही मैं उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। और जब वह आई, उसकी सारी लाग-लपेट मुझे धोखा न दे सकी। मैंने उसे खोलकर देखा—बहुत-सी लपेटों के भीतर यह चमक रहा था—"दवा पीओ, नहीं तो जगत् से अन्तर्हित हो

जाओ। मेरे स्वार्थ की यही आज्ञा है।"

मैंने इस सलाह पर सचमुच सोचना प्रारम्भ कर दिया। "मरने में अशुभ क्या है? मेरी इसमें क्या हानि है? मैं अपने पाप की स्मृति नहीं खोना चाहती—यही तो? मृत्यु में मेरा नाश थोड़े ही हो जायगा? प्रायश्चित का बोझा जो मैं ढोना चाहती हूं—सो तो ढो ही सकूँगी। फिर क्या बात है? सुन्दरलाल का भी इसमें लाभ ही है। उसे थोड़ी शान्ति मिलेगी। शायद वह अपने कुकृत्य पर पछताने भी लगे। मेरी मृत्यु से उसे धक्का तो लगेगा ही। और उससे कुछ-न-कुछ लाभ ही होगा। फिर मेरे मर जाने में क्या अशुभ है? हाँ, जिठानीजी! मेरे रहते वह यहाँ न लौटेंगी। मेरे ज़िन्दा रहते वह शायद न लौटेंगी। वह मुझे क्षमा भी न कर सकेंगी। उनकी क्षमा तो मुझे चाहिये ही! ओह, उनके प्रति मैंने कितना भारी अपराध किया? उनकी क्षमा के बिना मैं चैन न पा सकूँगी। पर वह मुझे कैसे पा सकेंगी? असम्भव नहीं, मेरी मृत्यु मुझे क्षमा दिला सके। दूसरे जन्म में भी, मैं जानती हूँ, मुझे उनकी क्षमा थोड़ी शान्ति पहुँचाएगी।"

तो मैं क्या निश्चय पर आगई? हाँ, आगई—बस, एक, केवल एक शङ्का शेष थी।

क्या मैं मर सकूँगी?

यह शङ्का मुझसे समाधान होने को न थी। और इसके लिए मैं अपने को शाप देने को तैयार होगई। मैंने सोचा, इस शङ्का की आवाज की परवाह किये बिना, मुझे अपना इरादा चरितार्थ करना ही होगा।

लेकिन—लेकिन·························नवीन!

७

●●●

मैं जब सोई, सवेरे सात बजे की तैयारियों की सब बातें सोच चुकी थी। किस तरह की रस्सी होगी, और और कहाँ से आयगी ? फन्दा कैसा ठीक रहेगा ?—आदि सब बातें मैंने अपने मन में स्पष्ट जमाली थीं। इसके आगे भी मैं बढ़ी थी—बहुत दूर तक बढ़ गई। कुर्सी को मैं इस तरह पैरों से ठुकराकर अलग कर दूँगी—और मैं झूल पड़ूँगी ! आश्चर्य की बात नहीं, इसके आगे भी मैं इहलोक की और परलोक की बहुत-सी बातें सोच गई थी। परलोक की बातें मैं आपको नहीं सुनाऊँगी। आप शायद ऊब जायेंगे। पर मैं आप से कहती हूँ, मैं सोचते-सोचते न ऊबती थी। और उन्हें मैं इतनी ही निर्भ्रान्ति, स्पष्टता और निर्धारण के साथ सोचती थी—जैसे, यहाँ के दैनिक व्यवहार की बातें। पर आश्चर्य यह, मैं रही धरिणी ही थी। परलोक में भी धरिणी थी, और इन हजारों बरसों के परलोक जीवन में—जिसमें मैं कुछ क्षण को ही रहती थी—मैं सदा धरिणी ही रही थी।—इसी वेष की, इसी स्वभाव की, इसी नाम की—सोलह वर्ष की बालिका।

मैं नहीं जानती, मेरी ये बातें आध्यात्मवादियों के विज्ञान पर कसी जाकर किस हद तक ठहर सकती हैं ? पर इसमें सन्देह नहीं, मेरे समीप उस क्षण में वह इस संसार के कठिन से कठिन ठोस तथ्य से भी ज्यादे सत्य और कहीं ज्यादे वास्तविक थीं।

इहलोक की जो बातें, अपनी मौत के बाद, जिन्दा की तरह से मैं थोड़े से ही क्षणों में देख गई, वह वहीं हैं, जो हमारे पाठक कहीं भी किसी आत्मघात की पूँछ में लगी हुई देख सकते हैं। किस तरह मैं

फूली पाई जाऊँगी ।—शोर मचेगा—लोग रोयेंगे, झींखेंगे, मुझे कोसेंगे, मेरी तारीफ करेंगे ! अखबारों में खबर छपेगी । और सुधारक से कट्टर, राजनीतिज्ञ-से मस्तिष्क-विज्ञानी, सांसारिक और आध्यात्म में तल्लीन रहनेवाले, न-हुए महान् से महान्—मैं—तुम—सब—मेरी इस लाज की बात से अपने काम की बात निकालने के लिए किस बुरी तरह उथल-पुथल करेंगे ।—यह सब मेरी आँखों के सामने से घूम गया । पर मैंने उस भीड़ में सुन्दरलाल को और जिठानीजी को खोजने में बहुत समय लगाया । सुन्दरलाल कहाँ है, और वह लटके हुए शव की उपस्थिति में क्या कर रहा है ?—यह मैं अच्छी तरह न देख सकी । वह भीड़ में था जरूर—पर क्या वह डर रहा था ? वह डर क्यों रहा है ?—रोता क्यों नहीं मेरे मर चुकने के बाद । मैं उसे रोते हुए देखना चाहती थी । पर देखा—बहुत-कुछ ग़ौर से देखा—उसके मुँह पर ढलकते हुए आँसू मैं देख ही न सकी । उसके मुँह पर तो मानो हवाई उड़ रही थी । हाँ ! अभागा सुन्दरलाल क्या मेरी मौत के बाद भी ज़रा शान्ति न पा सका ? वह डर रहा था । अभागा ! बदनसीब !!

इसी भीड़ में एक और भी था । उसे मैंने देखकर भी न देखा । पर सच पूछो, मै उसे ही देख रही थी । मेरे झूलते हुए शरीर की फटी हुई, बाहर को निकल पड़ती हुई, मुर्दा आँखों पर अविषण्ण दृष्टि गाड़ कर वह क्या सोच रहा था ? मैंने उसके सारे मुँह को छिपी—पर भरपूर—निगाह से टटोल-टटोलकर देखा । वह निर्मम, निर्दय कठोर पुरुष तीर की नाईं सतर खड़ा था ।—न रो रहा था, न हँस रहा था ! उसके मुँह पर विषाद नहीं था, शोक न था,—कुछ नहीं था, बस, एक मैला शून्य था ।

मेरी विकृत-आकृति देह झूल रही थी । नवीन की तरफ देखकर मैंने बड़ी कसक के साथ सोचा—आह ! मैं क्यों नहीं इस देह में फिर प्रवेश कर पा सकती !

× × × ×

पर मैं बिस्तर में लेट चुकी थी।—और इसकी आवश्यकता न थी। मैं सन्देह रूप में अभी वर्तमान थी।—और सात बजने में अभी दस घण्टे शेष थे। तो क्या मैं मर न सकूँगी ?

नहीं, नवीन, मैं मरूँगी। तुम मेरे लिए नहीं, मैं तुम्हारे लिए नहीं हूँ। तुम लोकोत्तर देवता हो, मैं भ्रष्टा हूँ। पर मेरी मौत पर नवीन, तुम क्या एक आँसू भी न ला सकोगे ?······पर नहीं, आँसू का नाम भी नहीं। तुम असाधारण हो, साधारण मैं तुम्हें नहीं बनने दूँगी।

नवीन की कहानी में अब पाठक मेरे 'देवता' शब्द पर अचरज न करेंगे। मरने के बाद मैंने उन्हें 'देवता' बनाया, और जब मैंने अपने को जीवित पाया, तो अपने स्वीकृत देवता को उस आसन से मैं उतार न सकी।

मैं मरी नहीं, और मेरे न मरने की कहानी इस प्रकार है—

सवेरे जब मैं छः-पैंतालीस पर सब ठीक-ठीक करके पल-पल पर यह मना रही थी, कि घड़ी की सुई एक-साथ छः-इकसठ पर हो जायं, और मैं अपने को मरा हुआ पा सकूँ—तभी एक नौकर तश्तरी में रखकर एक प्याला दवा लाया। मेज पर रखकर वह चला गया। आँखें मेरी हिलीं नहीं, दवा के काँच पर जम गईं।

कुर्सी ठीक खूँटी के नीचे रक्खी थी। रेशम की डोरी जेब में, हाथ में उलझी हुई, पड़ी थी। घड़ी में सुई छः-इक्यावन पर आ गई थी। मेरे दिल में कुछ भी विचार चक्कर नहीं लगा रहे थे। मस्तिष्क विचार शून्य था, हृदय भावना-शून्य! आँखें एक-टक प्याले पर लग रही थीं, और घड़ी की सेकिंड गिन रही थीं। हाँ, आँख गिन रही थी। पत्थर की आँख जैसे देख नहीं सकती, पर मालूम पड़ता है—मानों एक विशिष्ट पिण्ड को—गड़कर देख रही हो—वैसे ही मेरी आँख प्याले पर गड़ी हुई थी। पर वह देख नहीं रही थी। मैं कह चुकी हूँ—वह गिन रही थी।

नौ मिनट थे। ये नौ मिनट बड़े भारी थे। बड़े धीरे-धीरे जा रहे थे। दिमाग को इतनी देर खाली रखना बड़ा दुस्साध्य है। वह योग की

चरम अवस्था है। किसी-न-किसी क्रियात्मक शरीर-चालक का सहारा उसे लेना ही पड़ता है।

क्या यही बात थी? मौत से आठ मिनट की दूरी पर मैं खड़ी थी। आठ मिनट के बाद मुझे मौत से मिलकर एक हो जाना था। ठीक, निश्चित्! मैं उठी, और एक गटक में सारा प्याला गले के नीचे उतार गई। मुझे खेद नहीं था, चिन्ता नहीं थी। मैं मरने जा रही थी।—गिनती की अवशेष घड़ियों को मैं कैसे बिताती हूं—इसकी चिन्ता? उन्हें बिता डालना है—यही सब-कुछ! शेष कुछ नहीं!

गिलास को रक्खा। देखा, तश्तरी पर एक कागज था;—लिखा हुआ कागज था। लिखी पंक्तियाँ थोड़ी-सी-ही थीं। घड़ी की ओर देखा।—क्या समय है?—पढ़ सकती हूँ; अभी छः-चौवन ही हैं।

मैंने चिट्ठी पढ़ी। घड़ी का ख्याल जाता रहा। छः-साठ बीत गये, छः इकसठ हो गये। वक्त टल गया।—मौत टल गई। सरकारी फाँसी की सेकिंड की तरह अपनी फाँसी का सेकिंड मैंने अपने फ़ैसले के अन्त में दृढ़ता के साथ लिख रक्खा था। वह टल नहीं सकता। टल सकता है—तो भाग्य भी टल सकता है।

शायद परमात्मा का आदेश था। वह टल गया—मेरा भाग्य भी टल गया। क्या मैं कहूँ?—मैं तभी से परमात्मा का आदेश पहचानना सीखी हूँ।

चिट्ठी यह थी :—

श्रद्धेया देवि,

मुझ पर विश्वास कर सको, तो दवा पी लेना। दवा मैं ही भेजता हूँ। मुझे आपकी आज्ञा याद है। किसी तरह दवा यदि आपके पेट में पहुंचा ही दी जाती, तो भी अनिष्ट न था। परमात्मा आपका व्रत भंग नहीं करना चाहते। पर आपने दवा नहीं पी—सुन्दरलाल इस पर न जाने क्या कुछ ढा देने पर तैयार हैं! पर सुन्दरलाल की इच्छा पूरी न होगी। परमात्मा को अपनी इच्छा प्रिय है। आप निःशंक दवा पीलें।

मैं हूँ आपका—

'डॉक्टर'

सुन्दरलाल मुझ पर बलात्कार करने को उद्यत हैं! यह जानकर मुझे उस बिचारे पर दया हो आई। सारे पत्र से मैंने यह देखा।—और मैं इस मलिन हालत में सुन्दरलाल को छोड़ जाने का इरादा न कर सकी। समय निकल गया। सुन्दरलाल पर परमात्मा ने दया की—क्या मुझ पर भी दया की ?

दवा मैंने पीली थी। चिट्ठी से मैं कुछ न जान सकी। वह सच्ची है ? लगती तो ऐसी ही है। पर एक हजार रुपया ! नहीं, वह सच्ची नहीं है, जाल-साजी है।

पर मैंने दवा पी ली है। कुछ हर्ज नहीं—जो होगा, भुगतना ही होगा। पर अब तो और दवा मैं न पी सकूँगी। चिट्ठी सच्ची भी हो, तो क्या ? सुन्दरलाल ने बलात्कार की जो इच्छा की है, उसे तो पहले दूर करना ही होगा।

पाठक, यदि मुझ से पूछेंगे—मैंने क्यों अपना समय छः बजकर उनसठ मिनट के बाद साठवें मिनट पर रखा, तो मैं कुछ उत्तर न दे सकूँगी। वास्तव में मैं स्वयं ही नहीं जानती। पर मुझे विश्वास है—यदि पाठक पूर्ण विचार के बाद अपनी आत्मा को देव-लोक में भेज देने के निश्चय पर आएँगे, और यदि उस समय वह निश्चय पूरा न करेंगे—तो उन्हें एक खास दिन तय करना होगा। वह देखेंगे कि खास दिन के साथ खास समय भी तय किया जाता है। और जब वह समय आता है।—तब उससे एक सेकिण्ड पहले भी कुछ कर डालना उनके लिये सम्भव नहीं रहता। पर यह सब-कुछ क्यों होता है ?—और मैंने स्वयं ऐसा क्यों किया ?—इसका उत्तर कोई पूर्ण ज्ञानी दे सके, तो दे सके, मैं नहीं दे सकती। अस्तु—

अगले रोज जब सुन्दरलाल आये, मैंने आगे बढ़कर कहा—

"मैंने, कल दवा पी थी।"

सुन्दरलाल ने उछलकर कहा—"धरिणी, इस खबर के लिये मैं कितने दिनों से प्रतीक्षा कर रहा था!"

मैंने कहा—"अब सात बजे हैं, आज की दवा तुम लाये?"

"अभी लाया" कहकर सुन्दरलाल बड़ी उतावली से गये, और दो मिनट में सूने प्याले में दवा भर लाये।

मैंने कहा—"जाओ, दोनों महराजिन को और छज्जू चपरासी को बुला लाओ!"

सुन्दरलाल हड़बड़ा पड़े।

"तुम बुलाते हो, या नहीं?—या मैं ही आवाज दूँ?"

तीनों नौकर आये। मैंने प्याला सुन्दरलाल के हाथ में दिया—महाराजिनों को अपना एक-एक हाथ देकर कहा—"मजबूती से पकड़ लो।

छज्जू से कहा—"देखता क्या है, मुझे पकड़ कर खाट पे लिटा दो।" वह मेरे और सुन्दरलाल के मुँह पर एक-टक करके ताकने लगा। सुन्दरलाल तो निर्जीव हो रहा था। मैंने छज्जू और महराजिनों से कहा—"देखते क्या हो? मुझे खाट पर नहीं पटक दे सकते?"

जैसा कहा—नौकरों को वैसा करना पड़ा। "छज्जू। तू इधर आ रे! जा, सँड़सी ले आ! जा·······जाता है कि नहीं?"

सँड़सी आई।—"देख रे! इस से तू जोर—से मेरा मुँह खोले रखियो। और आप (सुन्दरलाल से) मुँह में दवा डाल दीजियेगा। आपको हुक्म देने का काम मैंने कर दिया, अब आप अपना काम कीजिये।···अरे! छज्जू, तू ताकता क्या है? जैसा कहा, वैसा करता क्यों नहीं है तू?"

छज्जू ने सँड़सी से मेरा भिंचा हुआ मुँह खोल दिया—सुन्दरलाल ने जोर-से दवा भरे प्याले को फर्श पर दे मारा, और मेरे पैर से चिपट गया।

महराजिन अलग जा पड़ी। छज्जू एक कोने में सिमट गया।

सुन्दरलाल को मैंने उस वक्त, कितना निंद्य—कितना नीच जाना।

दयनीय? नहीं दयनीय मुतलक नहीं!

८

दवा का कुछ परिणाम न हुआ। सुन्दरलाल बल प्रयोग की हिम्मत न कर सके। कोई तदबीर काम न आई, और मेरे पाँच महीने दवा न-पीते निकल गये।

इस बीच सुन्दरलाल लगभग रोज आते। डॉक्टर प्रति रविवार को आते। पर मैंने दवा न पी।

डाक्टर ने मुझे बहुतेरा आश्वासन दिया। दवा पीने में मेरा अनिष्ट न होगा। हाँ, इस तरह मैं सुन्दरलाल को भी चुप कर सकूँगी। पर एक हजार रुपयों की बात याद आते-ही उस पर से मेरा सारा विश्वास उड़ जाता। मैं, और भी ज्यादे सतर्क होने की आवश्यकता देखती।

पर मैंने डाक्टर के प्रति अन्याय किया। वास्तव में वह एक सच्चा आदमी था। और मैं उसकी सहानुभूति के लिये उसका धन्यवाद न दे सकी—इसका मुझे सदा खेद रहता है।

डॉक्टर की साधु-हृदयता तब मुझे मालूम पड़ी—जब वह एक इतवार को मेरे लिए एक बड़ा-सा वन्द लिफाफा छोड़ गया। उसमें सौ-सौ के दस नोट थे; साथ ही यह पत्र था—

श्रद्धास्पदा देवि,

ये एक हजार रु० मुझे सुन्दरलाल से मिले। किसलिये ?—यह आप जान-ही सकती हैं ! मैंने लिये, इस पर मुझे खेद नहीं है। न लेता तो इसमें और आपका नुकसान था। डाक्टर और कोई मिल जाता, और उसके लिए आपका व्रत बलात तोड़ देना कुछ कठिन न होता। दवाएँ और दस प्रकार से दी जा सकती हैं, यह मैं जानता हूँ। पहले

मैंने रुपये न लिए थे, और सुन्दरलाल से साफ इन्कार कर दिया था, पर सोचने पर मालूम पड़ा—रुपया ले लेना ही ठीक था। इससे सुन्दरलाल दूसरे डाक्टर की खोज न करेगा; मुझ पर निःशङ्क निर्भर रहेगा। और मुझ से आपका अहित न होगा। सुन्दरलाल के प्रति मेरा यह विश्वासघात हुआ—मैं जानता हूं। पर रुपया रखने की मेरी इच्छा कभी थी ही नहीं। परन्तु, मुझे खेद है, उस विश्वासघात से भी मैं आपका कुछ उपकार न कर सका। आपने उसके लिए गुन्जाइश ही न छोड़ी। आपने दवा का उपयोग न किया। और शायद, यह अच्छा ही हुआ। मुझे अब यह कहने का हक नहीं, कि मैंने आपकी सहायता की। आप अपने ही बल पर अपना निश्चय कायम रख सकीं।—इस से आप में मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ गई है। मैं अपने को आपका उपकारी मानना न सह सकता। यह मेरे लिए बहुत ज्यादे होता। इसी से मैं कहता हूँ—आपने दवा नहीं पी, यह ठीक ही हुआ। पर शायद, आपने मुझ पर अविश्वास ही किया। मुझे लगता है—रुपये लेने की बात आप जानती हैं। यह न होता, तो शायद आप मुझ पर अविश्वास न कर सकतीं। पर मैंने रुपये लेना क्यों उचित समझा, यह ऊपर लिख चुका हूँ। आशा है, आप इसके बाद मुझे निरा पशु न समझेंगी।

आपका विश्वास चाहने वाला—

'अविश्वासी डॉक्टर'

पुनश्च—रुपया सुन्दरलाल को मैंने नहीं लौटाया; उचित नहीं समझा। वह सब-कुछ हाथ से निकल जाते देख, गजब करने पर उतारू न हो जाय! पर रुपये की आप उतनी ही अधिकारिणी हैं; जितना कि वह। यही समझ कर यह आपके पास भेजता हूँ।

—'डाक्टर'

पत्र मैंने पढ़ा। एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा—कई बार पढ़ गई। मानों मेरी आँखें खुलीं। डाक्टर को मैंने कितना अधम समझा था, और वह—कितना उत्तम है! कपट-व्यवहार में भी कितना निष्कपट!

डॉक्टर न-जाने क्या समझना चाहता था। वह समझता होगा, मैं चिट्ठियाँ पाने और लिखने की आदत में हूँ। पर, उसे क्या मालूम, इस काल में मैंने बीस-बीस पत्र सतीश के पाये थे, और एक उसको लिखा था। मैं सोसायटी-प्रेमी नहीं थी। पर डॉक्टर के पत्र को मैंने ग्रहण किया, और मूल्यवान् समझा। मैंने तुरन्त डाक्टर को ये लाइनें लिख डालीं :—

डॉक्टर साहब,

रुपये मिल गये। वे घर के हैं—घर में ही रहेंगे। आपने मेरा इतना ध्यान रक्खा मैं आपको भूल न सकूँगी। आपने मुझे अपना विश्वास सौंप दिया, तो मैं भी कहती हूं, मैं सदा आपका विश्वास करूँगी। जो, अपराध हुआ, सो क्षमा करें। आशा है, मैं कभी आपके विश्वास के अयोग्य न हूंगी। मेरे भविष्य में क्या है ? कौन जानता है ? जो-कुछ हुआ, उसे भूल जाना होगा। पर मुझे मेरी इस असहाय अवस्था में एक सहायक प्राप्त हुआ। वह सहायक मेरी स्मृति के साथ रहेगा। उसकी उद्यत सहायता से मैं लाभ न उठा सकी, मेरा दुर्भाग्य ! पर मैं जान सकी हूँ, वह सहायता बड़े उदार-हृदय से आई थी। विश्वासघात का पातक लेकर वह सहायता की गई थी। वह सहायता बड़े खतरे में से निकली थी—वह बड़ी अमूल्य थी !

आपकी 'कृतज्ञ'

"ध०"

छज्जू को बुलाकर मैंने यह चिट्ठी दे दी।

पर वह डॉक्टर तक पहुँची नहीं; सुन्दरलाल के हाथों लग गई। सुन्दरलाल जरूर बड़ा खुश हुआ होगा। यह चिट्ठी उसके हाथों बड़ी कीमत की वस्तु सिद्ध हो सकती थी।

सुन्दरलाल उस चिट्ठी को लेकर डाक्टर के पास पहुँचा। वह बड़ा नाराज हो रहा था।—

(यह मुझे कब और कैसे मालूम हुआ, इसका वृत्तान्त यथा-

स्थान आ जाएगा)

हाँ, तो—सुन्दरलाल डॉक्टर के पास पहुंचा। बोला—"डॉक्टर, मैंने तुम्हें जिस काम के लिए रुपया दिया था, वह तुमसे न होगा। लाओ, अब मेरा रुपया मुझे दो।"

डॉ०—"मेरा काम दवा देना था—मैंने दवा दी। अब मैं रुपया कैसे लौटा सकता हूं ?"

सु०—"रुपया तुम्हें देना होगा।—और मैं तुमसे लूँगा। दवा जैसी तुमने दी है—मैं जानता हूं। यह सब तुमने तमाशा किया है। मेरी आँखों में धूल झोंकी है; और मुझसे एक हजार रुपया वसूल किया है। और मैं जानता हूं, किस लिए ? रुपया वह अब तुम्हारे पास नहीं है। बोलो कहाँ है ?"

डॉ—"रुपया कहीं हो, तुम उसके कौन ? मैं तुम्हें कुछ भी बताने से इन्कार करता हूँ।"

सु०—"तुम इन्कार तो करोगे ही— पर देखोगे, कैसी आसानी से तुम रुपया लौटाये देते हो।"

इतना कहकर सुन्दरलाल ने वह चिट्ठी डॉक्टर के सामने हिला दी।

सुन्दरलाल ने फिर बड़े-पूरे आराम से कहा—"कौन कहता है, मुझे धरिणी की जरा भी फिक्र है ? अब तक शायद थी, अब नहीं है। मैं क्या कोई दोषी हूं—जो फिक्र करूँ ? तो दोषी कौन है ?—तुम पूछते हो ? तुम—तुम पूछते हो ? तो सुनो, दोषी है एक डाक्टर ! डाक्टर का नाम जानने की जरूरत नहीं। और तुम विश्वास भी नहीं करोगे। विश्वास मैं भी नहीं करता। पर विश्वास की बात नहीं है—सबूत की बात है। तुम जानते हो, मैं जानता हूँ,—मैं दोषी हूँ। पर दुनिया नहीं जानती। वह जानना भी नहीं चाहती है। मैं दोषी हूँ—क्या सबूत ? तुम दोषी हो—सुनते हो, सबूत तुम्हें दोषी बनाकर छोड़ेगा। (चिट्ठी दिखाकर) देखते हो, यह क्या है ? यह मेरा रिहा-नामा है, तुम्हारे खिलाफ चार्ज-शीट (charge-sheet) है। और

देखते हो, यह किसके पास है ? सुन्दरलाल के ! बोलो—रुपये दे सकते हो, और मेरा काम कर देने की हामीं भरते हो ?—तो मैं तुम्हें यह लौटा सकता हूँ। नहीं तो, तुम जानते ही हो—यह कितने काम की चीज है !"

डा०—"रुपये मेरे पास नहीं हैं। मैं नहीं लौटा सकता। ज्यादे तुम क्या चाहते हो ? जो खत तुम्हारे हाथ लग गया है, तुम भोले नहीं कि उससे ज्यादा फायदा उठाना छोड़ दो। मैं नहीं जानता कि उसमें क्या लिखा है। पर समझ सकता हूँ, वह धरिणी का खत होगा। वह खत, चूँकि, जरूर बहुत सीधा है, इसीसे तुम्हारे काम का है। और मुझ पर कालिख फेंककर तुम समझते हो, तुम्हारी आत्मा धुल जायगी। पर शायद, तुम आत्मा की चिन्ता-ही नहीं करते। तुम दुनिया की वाह-वाही और दुनिया की फजीहत को ही सब कुछ समझते हो। तुम शायद बहुत गलत भी नहीं हो। बुद्धिमान्, मूर्ख की मस्ती को देखकर तरसते हैं। अपने को आत्मा-आदि की इल्लत से बिल्कुल अलग, निर्द्वन्द्व समझ सकना—इसके बराबर संसार में सुख नहीं। पर हमारे भाग्य में वह नहीं। हम द्वन्द्व से अपने को नहीं छुपाने पाते। थोथे 'धर्म' और 'आत्मा'—जैसी वस्तुओं की कपोल-कल्पनाओं में पड़कर हम बढ़िया सुख को हाथ से निकल जाने देते हैं। हम अभागे हैं, दुनिया की थू-थू सहते हैं। फिर भी जानते नहीं, समझते नहीं, अपनी टेक पर बदनाम होते हैं, गाली खाते हैं, और जो इस बेवकूफी में और आगे बढ़ जाते हैं, वे मरते हैं, सूली चढ़ते हैं, फाँसी खाते हैं, आग में जलते हैं—पर, फिर भी पागलपन से बाज नहीं आते। सुन्दरलाल, तुम इस पागलपन का मजा जानते नहीं। बड़ी से-बड़ी आफतों में से भी निकल कर यह मजा, मजा ही रहता है। मैं नहीं जानता, यह तुम्हारे मजे से बढ़िया है, या नहीं ? पर जो इस में पड़ जाते हैं, वे फिर तुम्हारे में नहीं पड़ना चाहते। यह जरूर है, कि जिसका नाम अक्लमन्दी है, वह तुम्हारी-ही तरफ है। कुछ

रोज पहिले मैंने भी अक्लमन्दी में नाम लिखाया हुआ था। पर एक रोज मेरी अक्ल खो गई, और मुझे बेवकूफ बन जाना पड़ा। अब अक्लमन्द बनने को जी नहीं चाहता। बेवकूफ हूँ, तो ही भला हूँ। तो तुम बेवकूफ के सिर पर दोष मँढ़ना चाहते हो? यही सही। बेवकूफ है—वह डरेगा थोड़े ही। वह तो और हँसेगा। सुन्दरलाल, तुमने गलत मार्ग ढूँढा। बेवकूफ को डराने का मार्ग इससे उल्टा है। बदनामी से नहीं, खुशी से वह डरता है। यह पाठ मैंने अभी ही मूर्खता की पाठशाला में सीखा है। तभी याद है। पुराना हो जाने पर तो मैं यह भी भूल जाऊँगा; और न मुझे बदनामी डरा सकेगी, न नेकनामी! पर अभी तो नामवरी से मैं डरता हूं। हाँ, तो आप कहते हैं, मैं दोषी हूँ, और इसका सबूत है।—ठीक, इसके बाद?"

सुन्दरलाल—"डॉक्टर, तुम मुझे टालना चाहते हो—पर मैं टलूँगा नहीं। यह कह देना बड़ा आसान है, तुम दुनिया की पर्वाह नहीं करते। पर दुनिया तुम्हें पर्वाह न करने दे, तब न? वह तो तुम्हारी परवाह करके ही छोड़ेगी। दुनिया के हाथों खूब घिस्से खाओगे, तभी बच सकोगे—पहले नहीं। पहले भागोगे, तो दुनिया की पर्वाह तुम्हारा पीछा न छोड़ेगी। किसी कुटी के किसी कोने में भी छिपो, वह तुम्हें जा ही पकड़ेगी और तुम्हारे सिर पर—चरणों में नहीं—अपनी पर्वाह के बबूल के काँटों से सजे हुए धतूरे के फूल जा बखेरेगी। क्या समझते हो—तुम सहज ही निकल भागोगे?"

डा०—"मैं क्या समझूँगा भाई! मैं कुछ नहीं समझता।—बस, यह समझता हूँ कि तुमने मेरे लिये उस धतूरे के फूल के ताज को बबूल के काँटों से सजाना शुरू कर दिया है।"

सु०—"देखो, डाक्टर! तुम मेरे पुराने दोस्त हो। मैं तुम्हें जरा जरब नहीं पहुँचाना चाहता। हममें-तुममें बात है,—इस धरिणी के झगड़े को ठीक कर डालो। बस, मैं तुमसे कुछ नहीं माँगता। रुपये तुम्हारे हैं, तुम्हारे ही रहेंगे। ये ताज-वाज की बात कहकर मुझे

शर्माओ मत। बस, अब कुछ मत कहो। मेरी दोस्ती की खातिर, बोलो, करोगे न ?"

डा०— अरे भाई, तुम्हारी दोस्ती ही का सौभाग्य तो मुझे अब मिलने जा रहा है।"

सु०—"देखो डॉक्टर, तुम अपने ही पैरों कुल्हाड़ी आप मारोगे, तो मैं क्या कर सकूँगा ? फिर तुम मुझे दोष तो न दोगे ?"

डा०—"अरे, तुम्हें दोष ? अरे भाई, मित्रता अभी काम न आई—तो कब आयेगी ? तुम इतनी जरा-सी बात भूलते हो ? लोग सुनेंगे, तो कितनी जल्दी विश्वास कर लेंगे। मित्रता का आजकल यही उपयोग है ! मैं तुम्हारा गाढ़ा मित्र ! बात समझने के लिए फिर कुछ भेद रह ही न जायगा। और लोग मेरे लिए अपने मुँह में कैसा कड़वा थूक लगायेंगे ! और हाँ—तुम खुल न पड़ना, सदा मेरी तरफ सहानुभूति जताते रहना।........ ओह ! मेरा वह पुराना दोस्त था, कितना सच्चा, कितना सुशील,—पर ओह यह ! तुम जानते हो, अभिनय का यह जरूरी भाग है।"

सु०—"डॉक्टर ! तुम हँस रहे हो ! फिर शायद रोओगे। मैं कहे जाता हूँ।—मुझे दोष न देना। मैं भरसक तुम्हारे भले में रहा। अब भी मैं तुम्हारा हितू हूँ। मैं तुम्हारा जान-बूझकर कभी नुकसान न करूँगा। कल शाम तक मुझे जब चाहो, बुला लेना। फिर उसके बाद में—बात हाथ से निकल गई—तो मैं लाचार हो जाऊँगा।...... मैं जाता हूँ।"

सुन्दरलाल चले गये। अगली शाम तक उन्हें न बुलाया गया। इस प्रकार की ईश्वरीय बेवकूफी को सामने पाकर लोक-चतुर लोगों को जो हठात् एक धक्का लगता है—वह सुन्दरलाल को भी लगा। पर अगले रोज से ही उनकी यंत्रणा शुरू हो गई। मित्रों को सारी कहानी मालूम होने में कुछ अड़चन न पड़ी। कहीं-कहीं सुन्दरलाल ने खुद अपने मुँह से विजय के गर्व में फूलकर सब कुछ कह सुनाई। पर

मेरे उस पत्र का आधार पाकर 'मित्र'-मण्डल, को चुपचाप डॉक्टर के विरुद्ध सन्देह फैला देने में कुछ कठिनता न हुई। सुन्दरलाल का मार्ग बड़ा प्रामाणिक था। और मण्डली के लोगों ने वही अख्तियार किया। बड़े चुपके-से, धीरे से विश्वास में थोड़ी सन्देह की मात्रा भी मिलकर, गहरे से निकाली हुई अपनी सहानुभूति से भीगी आवाज में वह अपने-अपने अनभिज्ञ परिचित से कहते—"आपने सुना क्या? डॉक्टर बिचारा कितना भोला है। पर लोग उसी को सानते हैं। कैसा अन्याय है! पर आपने सुना है—कहते हैं, सबूत भी है। औरत की एक चिट्ठी है। अजी भाई साहब, मन की करनी कौन जाने?"

अब सुन्दरलाल स्वस्थ थे। चिन्ता की रेख भी उनके मुँह पर नहीं दीखती थी। पर मेरी कृपा की अभिलाषा वह अभी नहीं छोड़ सके थे। उन्हें आशा भी थी। अपने सौन्दर्य और चातुर्य्य से भी ज्यादे वह मेरी निरीह अवस्था और स्त्री-सुलभ भय पर ज्यादे भरोसा जमाये बैठे थे।

पर, खेद है! पाठक, उन्हें सफलता न हो सकी। मेरे सम्बन्ध में उनकी भय की धारणा का आधार मजबूत न निकला। मैं उनके सब प्रलोभनों में से निकल आई, और आगे जो अँधेरे और कुत्सित भविष्य के भयावने चित्र बिछा रक्खे थे, उन्हें भी मैं पार कर सकी। सुन्दरलाल ने मुझे हीरे की तरह कठोर पाया, और मुझे पिता के यहाँ भेज दिया।

लोगों में चर्चा और थू-थू और आन्दोलन की तीव्रता बढ़ती ही गई। उस तीव्रता में भी जो सब से अधिक तीखापन था—वह यह, कि जाहिरा उस आन्दोलन को कम से कम तीखा और अधिक-से-अधिक मीठा बनाये जाने का रूप दिया जाता था। लोग डाक्टर से मिलते—पर ज्यादे मिठास के साथ! साथ ही बातचीत करने में एक-आध बार अपने दूसरे साथी की तरफ एक अर्थ-पूर्ण दृष्टि अवश्य डाल देते।

डाक्टर ऐसे नहीं थे, जो यह नहीं समझ सकते। पर यह समझकर भी उन्होंने अपना आना-जाना न छोड़ा। जिनसे मिलते, वैसे ही मिलते आये। उन्होंने अपने किसी काम में अन्तर न आने दिया। पहले कुछ

प्रेक्टिस में फर्क पड़ा, पर उसकी भी चिन्ता उन्होंने नहीं की। और यह अन्तर जल्दी ही पुर आया।

जिस पर यह आघात किया गया, जब वह सामने इतना सतर मुस्कुराता हुआ खड़ा था, तब आघात की विषमता कम हो गई।

लोग यह सब आघात अपनी खुशी की खातिर करते हैं। किसी को बिलखते, खीझते, चिढ़ते, छटपटाते देख, उन्हें खुशी होती है। जब वह ऐसी खुशी नहीं पाते, तो शिकार को छोड़कर हट जाते हैं।

इस मामले में यही हुआ। डॉक्टर शिकार न साबित हुए, और लोग अपने-अपने काम में लग गये।

६

मैं पिता के यहाँ आई।

पिता अर्थ-सम्पन्न और अर्थ-गर्वी पुरुष थे। माँ की मृत्यु पर उन की अवस्था कोई चवालीस वर्ष की होगी। वह कोई बुड्ढे नहीं थे। वय की थोड़ी सी अवस्था को द्रव्य की अधिकता सहज-ही दबा दे सकती थी। और पिता का विवाह—अच्छा, कुलीन विवाह—हो जाना कुछ कठिन न था। पर पिता ने विवाह न किया।

"क्यों?"

इस 'क्यों' का उत्तर इतना सहज नहीं। इसमें न जाने किधर-किधर के कितने भाव आपस में उलझे हुए हैं। मैं उस उलझाहट में भाव के दो-तीन तारों को सुलझाकर स्वच्छ कर सकी हूं। वे ये हैं:—

१—पिता समाज-सुधार-सभाओं के प्रमुख सदस्य हैं। उन्हें अपने उदाहरण से एक आदर्श उपस्थित करना चाहिये। उनसे ऐसी आशा

की जाती है, तो वह ऐसी आशा से ओछे न सिद्ध होंगे

२—धनाढ्य व्यक्तियों के विरुद्ध साधारणतः लोगों का विरोध-भाव होता है। धन के कारण वे अपनी समस्त भोग-लिप्साओं को पूर्ण करने की आवश्यकता नहीं समझते। पिताजी इस गौरव-लाभ का लोभ नहीं छोड़ना चाहते थे। उन-जैसा ऐश्वर्यशाली व्यक्ति धन-सम्पन्नता में ऊँचा हो सकता है—यह पिता को प्रत्यक्ष कर दिखाना होगा।

३—उनके योग्य, वय-प्राप्त पुत्र है! एक कन्या है। उनमें सन्तोष मान लेना कुछ कठिन नहीं है। पिता सन्तोष मान सकते हैं; और लोग देखें कि वह सन्तोष मान सकते हैं।

४—पिता ने अपने विचारों के लिये एक निश्चित सामाजिक स्थान पाया हुआ है। उस स्थान पर प्रतिष्ठित रहने में, यह नहीं—उन्हें कुछ सांसारिक लाभ नहीं हुआ है। वह उसे नहीं छोड़ना चाहते।

पर ये सब भाव-तार, जिस एक सत्य के मोटे धागे के चारों ओर लिपटकर उलझन पैदा कर रहे थे--उस मोटे कुत्सित धागे को भी मैं देख सकी। वह क्या था?—

वह था, कि, उन्हें—

"दैहिक सुख के लिये विवाह का बन्धन नहीं रुचता था। माँ की जीवितावस्था में भी अपने शरीर-सम्बन्धी भोग-विलास के लिए केवल माँ पर निर्भर रहना उन्होंने आवश्यक और पर्याप्त नहीं समझा। माँ की सेवाएँ अवश्य उनको स्वीकार थीं। पर उसकी ही स्वीकृति में जीवन उपयोग की चरितार्थता मान लेना उन्हें सह्य न था। और वह हर स्थान से, हर तरह का रस लेने में न चूकते थे। सब प्रकार की सेवाओं के लिए उन्हें, रुपये के बल पर, सब प्रकार की सेविकाएँ और सेवक प्रस्तुत हो सकते थे। 'माँ' के अस्तित्व से उन्हें जो विशेष सुविधा थी—वह यह कि वह हमारी (मेरी और सतीश की) ओर से, हृदय में तनिक भी ग्लानि उत्पन्न हुए बिना बिल्कुल बे-खबर रह सकते थे। वह समझते थे, हमारे उपर एक अभिभावक (हमारी माँ) है ही। अतः वह

इस इल्लत से अधिकारतः मुक्त हो गये हैं। माँ के 'नास्तित्व' में उन्हें बस यही चिन्ता थी, कि शायद हमारी चिन्ता का बवाल उनके सिर आ पड़ेगा। पर मेरा विवाह हो गया—और उनको इस चिन्ता से भी छुटकारा मिला। सतीश बड़ा हो चला था। और वह समझते थे, माँ के मरते-न-मरते पुत्र भी 'मित्रवदाचरेत्' के योग्य हो जायगा। माँ मरीं, तब सतीश कोई बाईस वर्ष का होगा। पूरा जवान हुआ। घर से उसे ज़्यादे अनुराग न था। पिता के कृत्यों से उसे दिलचस्पी न थी। पिता को पूर्ण स्वच्छन्दता थी। उधर बहुत सी सोसायटियों के नेतृत्व-स्थान का तकाजा था। फिर सुधारकता की नामवरी की कामना थी।—इन सब कारणों से पिता ने घर में 'धर्म-गृहिणी' लाना आवश्यक और उचित न समझा।

क्या कोई पिता को इसके लिए 'पूर्ण बुद्धिमान' के अतिरिक्त और कुछ कहने का साहस कर सकता है ?

जब मैं घर पहुंचाई गई—पिता को हठात् एक धक्का लगा। मैं एक बवाल थी। सुन्दरलाल ने मुझे एक चिट्ठी दी थी; वही, जिसका जिक्र नवीन ने किया है। वह चिट्ठी पिता पर गाज-सी पड़ी। जिससे वह बड़ा डरते थे, अपने सब सत्कर्मों और कुकर्मों में जिसका बड़ा ध्यान रखते आ रहे थे—क्या वही आफत उन्हें अपने सिर पर गिरती दीखी ? क्या उन्हें आखिर समाज का अपमान, लोगों की फुस-फुस सहनी ही होगी ? 'चिट्ठी वाली' मुझे अपने सामने पाकर पिता हत-बुद्धि हो रहे। कुछ क्षण वह मुझे देख न सके। फिर जैसे मुझे, नींद से चौंके हों, वैसे देखकर बोले—

"धरि, जाओ, अपने पहले वाले कमरे में जा ठहरो। सतीश को यहाँ भेज देना। उससे कह देना—तुरंत आये।"

मैंने पिता का यह आदेश सुना। कुछ कदम आगे बढ़ कर ठिठकी। फिर कमरे में गई। सतीश आराम कुर्सी पर पड़ा हुआ शायद कुछ सोच रहा था। मेरी आवाज सुनकर एक-दम उठा, और मुझसे आ भिड़ा।

सतीश मेरा भाई था, मैं उसकी बहिन थी। हम भाई-बहिनों में बड़ा प्यार था। सतीश बोला—"अरि धरी, तू कब आई ? ले तुझ से तो कब से नहीं मिला ! रोज तेरी याद करता हूँ। पर यह नही होता, तेरे से मिल ही आऊँ। पर धरि, सच यह है, कि दूर की सोचने में जो सुख है, वह पास पाने में नहीं है।"

वह मुझे अपनी सजी हुई बैठक में खींच ले जाना चाहता था, पर मैंने कहा—"भैया, तुम्हें पिताजी बुला रहे हैं। बड़ा जरूरी काम है। कहा है, फौरन भेज देना।"

सतीश बोला "उँ....ह..., उन्हें हमेशा जरूरी-ही काम लगा रहता है। चला जाऊँगा, जल्दी क्या है ? पर चलो, तुम मेरे कमरे में चलो।"

मैंने कहा—"भैया, मेरी कसम, तुम अभी जाओ।"

सतीश को अनुरोध में मेरा विषाद दीख गया। बोला—"तू ऐसी क्यों हो रही है, धरी ?"

मैंने कहा—"मैं कुछ नहीं कह सकती। पर तुम पिता के पास अभी जाओ। वह मेरी ही बाबत तुमसे कुछ कहना चाहते हैं।"

"...तेरी बावत ? मैं जरूर जाऊँगा—और अभी जाऊँगा। पर आखिर बात क्या है ?"

"मैं नहीं बता सकती। तुम्हें उन्हीं से पता चलेगा।"

सतीश—"धरी, अपने भाई 'सतीश' को नहीं बता सकती ?"

मैं—"भैया, मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूं। दया करो, क्षमा करो। मुझे छोड़ दो, और तुरन्त पिता के पास जाओ।"

—"जाता हूँ, पर मुझे डर लग रहा है।"

सतीश पिता के पास चला गया। मैं अपने कमरे में चली आई।

अपने कमरे में। यह वही कमरा है, जहाँ मैं धूल-भरे हाथों से लड़-झगड़कर माँ को प्यार कर लेती थी! वह प्यार बहुत होता था, बड़ा कीमती होता था। पर क्या मैं उसका मोल जानती थी ? मैं उसे

बखेर देती, और अपने प्यार को बिखर जाते देख, माँ का प्यार और भी अधिक विवशता से, उसकी आँखों से, उनकी सारी आकृति पर पड़ता था। मैं 'माँ' के प्यार को धरती पर बिखराकर उस पर खेलती, और माँ, मेरी माँ, मुझे अतृप्त नयनों से, उनमें आकुल प्रेम भरकर, मुझे देखतीं।

ओ मेरी माँ, आज तुम कहाँ हो ?

मैं तुम्हारे दुलार की बेटी आज किस अवस्था में हूँ ? माँ, तुम जानती हो ? मुझे दुनिया ने अलग कर दिया है। मैं तुम्हारे पास आई हूँ—क्या तुम भी मुझे ठुकरा दोगी ? ओ, मेरी माँ !

माँ मुझे ठुकराओ मत ! मैं तुम्हारी बच्ची हूँ। तुम्हारे प्यार का मैं आदर करूँगी। उसे भूलूँगी नहीं। मैं पहले ही की तरह निर्दोष हूँ। अपने प्यार का आश्रय मुझ पर से उठा न लेना। ओ मेरी माँ।

तुमने शिक्षा को ठुकराया था, दुनिया की प्रशंसा को तुमने तज दिया था, अहम्मन्यता को तुमने जीत लिया था। और—पाप को तुमने आश्रय दिया था। कहा था, पाप में अहंकार मत करो। पाप को दुखित मन से अन्तर्यामी के चरणों पर विसर्जन कर दो। ओ माँ ! मैं अपने पाप को, अपनी अहम्मन्यता को, तुम्हारे चरणों पर रखती हूँ। माँ, मुझे क्षमा दो—मुझे छोड़ न देना। ओ मेरी माँ !

मेरी माँ मेरे सामने मूर्तिमती हुई। उन्हीं आखों से, प्रेम से स्निग्ध उसी क्षमाशीलक मातृत्व की ज्वलन्त मूर्त्ति को देखा। मैं घुटने टेककर उनके चरणों के पास बैठ गई। फिर ऊपर को झुकी, उनकी आर्द्र आँखों में देखते हुए मैंने रोकर कहा—"माँ, मैं परमात्मा को नहीं देखती। जब परमात्मा को देख सकूँगी, उसके चरणों पर गिरकर रो लूँगी। पर आज तो तुम्हें, अपने चरणों में ही, मुझे जगह देनी होगी। माँ, मैं बच्ची हूँ, मुझे क्षमा करो। जैसे झगड़कर मैंने तुम्हारा प्यार पाया था—वैसे ही, मैं अब तुम्हारी क्षमा भी लूँगी। तुम मेरी माँ जो हो—तुम इन्कार न कर सकोगी !,,

मुझे माँ का आशीर्वाद मिला उसमें शुद्ध क्षमा गर्भित थी। मुझे धर्म की दृढ़ता का आशीर्वचन मिला। मैंने अपने धर्म को दृढ़ बनाया और मैं उसी प्रकार घुटने टेके ऊपर को देखती रही।

कहाँ देखती रही ? मेरी आँख की सीध में सामने दीवार पर कौन सा ऊँचा बिन्दु था—मुझे नहीं मालूम ! मुझे दीवार दीख नहीं रही थी। दीवार और मेरे बीच में, आकाश में, अधर, अज्ञेय, किन्तु स्पष्ट, मेरी माँ खड़ी थी। मैं उसकी सहृदय आंखों की ओर अपनी कायर आँखें जमाये हुए थी। मैं इस अवस्था में कई मिनट रही। माँ के चरण मेरे हाथों में थे। उनकी दृष्टि मेरे मुख पर थी। उनकी क्षमा मेरे हृदय में थी।

जब सतीश आया, मैं इसी अवस्था में थी। सतीश को आश्चर्य न हुआ।

दर्द उसके कण्ठ से निकला—एक एक अक्षर दर्द से भरा हुआ—
"पिता तुम्हें बुला रहे हैं।"

—"चलो !"

मैं सतीश के साथ हो ली। सतीश कुछ न बोल सका। वह एकदम बहुत-कुछ बोल जाना चाहता था, इसीलिये शायद कुछ बोल न सका। सतीश का प्यार इस समय मेरे लिये कितना उमड़ आया था, और वह कितना दुखपूर्ण था ? मुझे घृणा नहीं कर सकता था—गुस्सा नहीं कर सकता था। गुस्सा कर सकता तो उसे बड़ा चैन मिलता। पर गुस्सा नहीं कर सकता था, इससे अपने प्यार को लेकर बड़ी व्यथा पा रहा था।

पिता के कमरे में घुसते-ही मैंने देखा—नवीन !

—सुन्दरलाल !

मैंने जरा घूँघट को सरका लिया, और आत्मा की पूजा और आत्मा की ग्लानि को लेकर मैं साहस के साथ भीतर घुस गई।

मैं अभी माँ के पास से आ रही थी। उसका आशीर्वाद अभी हरा

था। अपने धर्म को दृढ़ रखना होगा। पाप के परिणाम को छुपाना नहीं होगा! पाप के परिणाम की अक्षुण्ण स्वीकृति ही मेरा सच्चा धर्म है। मुझे उस धर्म पर अटल रहना होगा। मन-ही-मन मैंने यह प्रतिज्ञा की, और मैं स्थिर चित्त हो परीक्षा की प्रतीक्षा करने लगी।

१०

●●●

सुन्दरलाल का 'सुन्दरलाल-पन' जानने पर मुझमें जो एक बड़ा परिवर्त्तन हो गया था, उसका जिक्र मैं पीछे कर आई हूँ। मैंने देखा था, बिल्कुल 'अबला' रहकर मैं न जी सकूँगी—थोड़ा-सा पौरुष भी अपने में लाना होगा। पर—आश्रय का आसरा भूलकर थोड़ा-सा स्व-आश्रय जमाना होगा। मैं तब से अपने स्वभाव में एक तेजी उगती हुई पाने लगी।

मेरा परिवर्त्तन अभी ताजा था। इसमें-उसमें पहले-पहल की बहुत-सी उग्रता थी। जब मैं पिता के सामने पहुँची, मुझे लगा, मेरे उस परिवर्त्तन की जांच का समय आ पहुँचा है। जैसे विद्यार्थी इम्तहान के समय अपनी सारी पढ़ाई को कंठाग्र कर ले आने का प्रयत्न करता, और उसे चट-पट लिख-डालना चाहता है, उसी तरह मैं भी अपनी सभी शिक्षा को पूरी तेजी से स्मरण कर, उसे कार्य में दिखलाने को आतुर हो उठी।

पिता के सामने क्या-क्या बातें हुईं?—नवीन की कहानी से पाठक जानते हैं। मैं परीक्षा में फेल हुई या पास—यह आप स्वयं निर्णय करें। अपने निर्णय की मुझे चिन्ता है, और जिसे मैं उस समय भी भूलना नहीं चाहती थी, वह यह है—"मेरे कारण किसी और की

आशाओं पर तुषारा-पात न हो। नवीन ने यदि शशि से विवाह न किया तो मैं उसके प्रति बड़ा अपराध करूंगी।

तब मैंने देखा, मुझे अपने लिये स्वयं सोचना होगा। अब तक मैंने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की धारणाओं को किसी व्यक्ति के उदाहरण से ज्यों-का-त्यों उतार कर, अपने अनुकरण के आगे धर लिया था। अब मुझे उसमें प्रत्येक अंश की परीक्षा करनी होगी।"

जो बात मैं देखकर भी नहीं देख सकी थी; वह अब प्रत्यक्ष हो गई। मेरे लिए एक कुत्सित जाल बिछाया गया था और मैं उसमें सहज ही फँस गई।—मानो, इच्छा करके फँस गई। जाल में आकर्षण के लिये जो चीज डाली गई थी, वह बड़ी ही लुभावनी थी। वह पवित्र होनी चाहिये थी। पर पवित्र न थी, इससे दुष्ट थी। धार्मिक क्रियाओं के लुभावने स्वरूप में मैं लुभा गई। मैं फंस गई। मैं बंध गई।

मैंने कुछ नहीं सोचा। बस, यह सोचा—उस पुरुष से जो कुछ होगा, भला-ही होगा। मेरा अपना भला-बुरा कुछ था ही नहीं। इससे जो कुछ उससे पाया—भले के रूप में स्वीकार कर, अपने को धन्य माना।

सारी कहानी बहुत लम्बी है। नवीन के द्वारा उसका अनुमान पाठक कर चुके होंगे। अनेक ऐसी अनिवार्य घटनाओं को पार कर, जिन्हें पाठक बहुत-सी किताबों में पढ़ते हैं, मैंने वेश्या जीवन ग्रहण किया; और उस ज्वाला में दिनरात भभकती हुए मैंने एक दिन अकस्मात नवीन को पाया।

नवीन अब डिपुटी-कलक्टर है। शशि के, पिता के, और सुन्दर-लाल के शहर से दूर रहता है। मैं उसके पास हूँ। पैसा है, सामान है, नौकर हैं—पार्थिव सुखों के सभी सामान हैं। पर जो नहीं हैं, उसे मैं भी समझती हूँ, नवीन भी समझता है। माँगे हुए गहने को पहन-कर जिस मन में पूरा सन्तोष कभी नहीं होता, और भीतर-ही-भीतर एक अनिवार्य अभाव का अनुभव कर, मन अकस्मात् कचोट उठता है,

उसी प्रकार मैं देखती थी, समझती थी, पाती थी—मैंने नवीन का आश्रय पाया है; प्यार नहीं।

नवीन के दिल पर शशि विराजती है, पर मुझसे उसका नाम लेते वह डरते हैं। इससे मुझे आघात लगता है। मैं बार-बार कहती हूं—"तुम्हें शशि के पास जाना होगा। जाना-ही चाहिए।" जब वह जवाब देते हैं—"जाना तो चाहिए ......"—तो मेरी साँस रुक जाती है, पर जब इस जवाब का उत्तरांश भी बोलते हैं—"पर मैं जाऊंगा नहीं।"—तो मेरा पापी, ईर्ष्यालु, स्त्री-हृदय एक अकथनीय आत्मसुख का अनुभव करता है।

यह हमारा 'आज' है। पाठक उसका परिचय शुरू में ही पा चुके हैं। अपने-आपको सख्त धोखा देकर उस दिन मैंने नवीन से वही आग्रह दोहराया था। पाठक उसे पढ़ चुके हैं। नवीन ने सोचने का वादा किया है। उनके इस निश्चय से मेरे मन की क्या दशा हुई है—पाठक इसकी कल्पना करेंगे ?

बस, यहाँ मैं अपनी कहानी खत्म करूँगी।

सतीश की कहानी

९

धरिणी को मैंने बहुत खोजा। पर कहीं उसका पता न लगा। कुछ दिन बाद ही नवीन भी गायब हो गये। शशि के साथ उनका ब्याह पक्का हो गया था। ब्याह से ऐन पहले नवीन कहीं चल दिये। कहाँ गये—मैंने इसकी कल्पना करने की कोशिश नहीं की। घर से मैं पहले ही विरक्त रहता था, अब यह विरक्ति ज्यादे बढ़ गई। पिताजी को अपनी सभा-समाजों, और अपने गुलछर्रों से ही फुर्सत नहीं थी, मेरी विरक्ति पर दृष्टि-पात करने की चिन्ता उन्हें क्यों हो ? घर में वे अपना एकच्छत्र राज्य चाहते थे। कुछ कमरे तो माँ के मरते ही रिजर्व होगये थे, कुछ में अभी मेरी रोक-टोक न थी। मेरा खयाल है, मेरे कारण पिताजी को कई बार अड़चन और शर्म उठानी पड़ी।

एक दिन वे मुझसे बोले—"सतीश !"

मैं कपड़े पहनकर बाहर जा रहा था। बोला—"जी।"

पिता—"तुमसे कुछ कहना है।"

मैं—"कहिये।"

पिता—"यों खड़े-खड़े कैसे सुनोगे ? बैठ जाओ।" कहकर वे खुद भी बैठे, मुझे भी बैठाया।

फिर बोले—"भाई, मैं तुम्हारी आजादी में फर्क डालना नहीं चाहता, पर लोग कहते हैं, मुझे तुम पर हक है।"

मैंने स्वीकृति का भाव प्रदर्शित किया।

"देखो, तुम जवान हुए, लोग मुझसे कहते हैं—तुम्हारा ब्याह होना चाहिये।"

मुँह से मैं फिर भी न बोला। 'ब्याह' का शब्द सुनकर 'शशि' और फिर 'नवीन' की मूर्ति आँखों-आगे नाच गईं। फिर स्कूल के दिनों की स्मृति शुरू हुई थी, कि पिताजी की आवाज कान में पड़ी—"मैं तो इसका निर्णय तुम्हीं पर छोड़ना चाहता था। जब तुम कहते—तभी विवाह करता। पर लोग कहते हैं—लड़के अपने मुँह से कुछ नहीं बोला करते।"

इस बार मेरे ओंठ हिलने को हुए, पर शब्द फिर भी बाहर न आये।

"मैं नहीं जानता, लोगों का यह खयाल तुम्हारे विषय में भी लागू हो सकता है, या नहीं। बहरहाल मैं तुमसे साफ बात की उम्मीद करूँगा।"

मैं—"मैं समझा नहीं; आप क्या उम्मीद करेंगे ?"

पिता—"मैं चाहता हूँ, तुम मुझे बताओ······। न, मैं तुम्हारा विवाह करना चाहता हूँ।"

"फिर ?"

"तुम सहमत हो ?"

"आपकी बात मैं समझा नहीं। मेरी सहमति-असहमति पर विवाह निर्भर है, या आपकी इच्छा-अनिच्छा पर ? आप लोक लाज से बचने को यह इरादा कर रहे हैं, या मुझे विवाहित हो ही जाना चाहिये—यह सोचकर ? आपकी यह दुरंगी बात मेरी समझ में नहीं आती।"

पिता कुछ शर्मा से गये। फिर झट बोले—"भई, मैं तुमसे पार न पा सकूँगा। कोई दुरंगी बात नहीं है। मेरी इच्छा है, तुम विवाह कर लो। अब तुम जवान हुए, इस तरह निश्चिन्त भाव से तुम्हारा घूमना मैं नहीं सह सकता। तुम्हें गृहस्थ बनना चाहिये; अब तुम सब तरह इस आश्रम में प्रवेश करने योग्य हो।"

शशि की मूर्ति स्पष्टतर होने लगी। भला मैं अब विवाह करूँगा ? अब तक वर्षों से जिसकी बात सोचता रहा, इतना ज्यादे—कि मन में और किसी के लिए जगह न रही, क्या अब उसे एक-बारगी निकाल

फेकूँगा ? ऐसा मुझसे हो नहीं सकेगा। मैं चुप रह गया।

"सतीश, शास्त्रों में मौन किसी और बात का लक्षण है। पर तुम्हारी प्रकृति से मैं वाकिफ हूं। क्या मैं ठीक समझ रहा हूं—कि बात प्रतिकूल है ?"

मैंने धीरे-से कह दिया—"हाँ।"

"तो तुम विवाह नहीं करोगे ?"

मैंने अनुभव किया—पिता यही सुनने की आशा में थे। इस समय उनकी आशा की प्रतिकूलता करने का लोभ न छोड़ सका। बोल उठा—"करूँगा।"

चेहरा उनका खिल-सा गया। बोले—"सतीश, तुम बड़े समझ-दार लड़के हो। तुमने मेरे मन-मुताबिक बात कही····।" इत्यादि।

यह 'इत्यादि' मैंने इसलिये कहा, कि आगे की बात मैं सुन न सका। इस वक्त तो शशि ने मेरे मन, प्राण और मस्तिष्क पर अधि-कार कर रक्खा था। कैसे होगा ? उसके रहते, कैसे विवाह करूँगा ?

दिल्लगी और दया की बात यह थी, कि शशि मुझे प्यार नहीं करती। जी हाँ, 'प्यार' बड़ी चीज है। कहने का मुझे खेद है, पर यह तय बात है, कि उसने कभी मुझे 'प्यार' नहीं किया। मैंने उसका 'प्यार' उपलब्ध करने में एक मुद्दत लगाई, पर कभी सफल न हुआ। उस दिन के मल्ल-युद्ध में जो नवीन ने मुझे पछाड़ा, मैं हमेशा उसके सामने दबा रहा। हर बात में वह मुझसे आगे रहा। इस मामले में भी ऐसा ही हुआ। शशि नवीन को प्यार करती है—दिल-से प्यार करती है।

आशा उसकी छोड़ चुका हूँ, पर याद नहीं भूलती। प्यार का यह कैसा अनोखा करिश्मा है !

तो क्या अब मुझे विवाह कर लेना चाहिये ? क्या इससे उसकी याद भूल जायगी ? पाठक मुझे क्षमा करें, मुझे अपने पर कतई विश्वास न था।

अब पिताजी की आवाज कान में पड़ी—"तो तुम देखना चाहोगे ?"

"किसे ?" मैं जैसे जाग उठा।

"लड़की को।"

"किस लड़की को ?" कहकर तुरन्त ही मैं होश में आगया। फिर बोला—"जी हाँ।"

"कब ?"

"अभी नहीं।"

पिता को जल्दी थी। बोले—"देखने की जरूरत ही क्या है—तुम्हारी देखी हुई है।"

मुझे जैसा काँटा लगा। बोला—"मेरी देखी हुई है ?"

"अरे हाँ, शशि······"

आगे की बात मुझे याद नहीं। शशि ! क्या शशि से मेरा विवाह होगा ? वह तो नवीन की वाग्दत्ता है ! क्या मुझसे उसका विवाह होगा ? क्या गलत तो नहीं सुना ? पर गलत सुनना चाहता नहीं था, इसलिये समाधान कराने की हिम्मत न हुई।

क्या शशि मेरी होगी ? वह सूखी आशा लता हरी होगी ? न, यह स्वार्थ है, बड़ा निन्द्य विचार है ! या तो किसी और शशि की बात है······पर मेरी देखी हुई तो और कोई शशि नहीं है······या, फिर नवीन के चले जाने से उसके लिये वर की तलाश हुई। ओह ! तो क्या मुझे उच्छिष्ट बनना होगा ? यह अपमान ! पर शशि की उपलब्धि ! वह तो बड़ी चीज है।

"तो तुम राजी हो ?"

तीन क्षण में तीन बातें कहने को मन चाहा। 'हाँ', 'नहीं', 'सोचूँगा'। पर तीन में-से एक भी न कह सका।

"मैं समझता हूँ, उन लोगों को वचन दे दिया जाय। क्या कहते हो ?"

मैंने कह दिया—"आप चाहे-जो कर सकते हैं।"

मैं अपने कमरे में आगया। जहाँ जाने का विचार था, वहाँ नहीं गया। खुशी-से नाच उठने को मन करता है, पर एक बड़ी-भारी बाधा-सी खड़ी है। क्या यह विवाह शशि की इच्छा के अनुकूल होगा?

एक मुद्दत से उसके घर गया नहीं था। न-जाने कैसी है। अब उसका भाव कैसा है? मुमकिन है······। पर क्या उसकी सम्मति पूछी गई होगी? मुझे आशा नहीं। और अगर पूछी गई हो, तो क्या उसने जवाब दिया होगा? सीधी लड़की! बोलना तो जानती ही नहीं! तो मुझे क्या करना होगा? क्या मैं उसके भोलेपन का लाभ उठाऊँ? यह मेरी नीचता होगी। ना, मैं उतना नीच नहीं हूँ। मुझे अपनी भावनाओं का बलिदान करना चाहिये। मुझे उसकी साफ राय जाननी होगी।

भावावेश में मैं चल दिया। जाकर कहूंगा—"शशि! मेरे साथ तुम्हारे विवाह की बात चल रही है।"

वह लजायगी। मैं कहूँगा—"मैं तुम्हारे पिछले मनोभाव··········· न, मुझे तुम्हारे उन मनो-भावों की याद है। नवीन यहाँ······न, मैं समझता हूँ, तुम्हारे प्यार की असल चीज खो गई है। क्या तुम उसके अभाव में मुझसे····मुझे अपना प्यार सौंप सकती हो?" इसका वह क्या जवाब देगी?······

उसका घर पास आगया। अगर उसने न माना? अगर उसने अस्वीकार कर दिया? न, मैं कल्पना न कर सका। तो क्या मुझे जाना चाहिए? नहीं, शशि इस समय उत्तेजित हो सकती है। कल उसका भाव बदल नहीं जायगा—यह कौन जानता है? न, इस समय मेरा उसके सामने पहुँचना ठीक नहीं।

मैं घर वापस आ गया। पर शशि मेरे निकट नवीन की चीजें थी, और उसकी अनुपस्थिति में, या उसके अभाव में, शशि को ग्रहण करना बड़ी-भारी निन्द्य बात है! कहूँ, मैं अपने-आपको धोखा दे रहा था।

मैं अन्त तक अपने को धोखा देना चाहता था। इस लिए शशि का विचार जानने को व्याकुल था। उसके सामने पड़ने को हिम्मत मुझ में हुई नहीं, क्योंकि तह की दुर्बलता ऊपर आ गई। अब इस दुर्बलता को नजर से छुपा कर मैंने आत्म-प्रवञ्चना की पराकाष्ठा की।

शशि को मैंने खत लिखा :—

"तुमसे मेरे विवाह की बात चल रही है। पिता मेरी सहमति माँगते थे। मैंने निश्चित उत्तर नहीं दिया है। इस विषय में तुम्हारी स्पष्ट सम्मति जानना चाहता हूँ। कृपया सच-सच लिखना, और तुरन्त! जवाब नहीं दोगी, तो समझूँगा, तुम्हारी सहमति है।—सतीश।"

नवीन का जिक्र मैंने जान-बूझकर छोड़ दिया। इस संक्षिप्त खत में मेरे मन की सारी कमजोरी विद्रूप कर रही थी! भेजने के पहले मैंने उसे पढ़ा था, और भेजने के बाद ही से मैं जैसी शर्म से पड़ा, उसका बयान नहीं हो सकता।

धड़कते दिल से जवाब का इन्तजार किया। पर निश्चित समय बीत जाने पर भी कोई जवाब नहीं। क्या शशि राजी है? क्या उसके भाव बदल चुके हैं? क्या मेरा कर्त्तव्य समाप्त हो चुका? क्या अब उसका पाणि-ग्रहण मेरे लिये निन्द्य नहीं?

पर इन सभी प्रश्नों के उत्तर में, हृदय के बहुत-ज्यादे भीतर, कठिन विरोध की भावना का उदय होता था।

फिर भी पिता को मैंने सहमति देदी, और शशि से मेरा विवाह हो गया।

२

पिताजी के मन में तो खुल-खेलने की साध थी। ब्याह से निबटते ही हमारे लिए अलग मकान की व्यवस्था कर दी गई। यह सब करने में उन्हें कुछ दिक्कत न हुई। मेरी खुद भी तो वही मर्जी थी। पृथकत्व का प्रस्ताव मेरी ही तरफ से रखा गया। इस तरह पिताजी को आसान बहाना हाथ लग गया; और जिज्ञासुओं और भक्त-लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने का भी। जब उन्होंने अधरोनी सूरत से कलजुग और आजकल की औलाद की एहसान फरामोशी का रोना रोया, तो भला किसे कहना था, कि बात गलत है।

पिताजी की बात मैं यहीं छोड़ दूँ। कहानी से उनका कोई सम्बन्ध नहीं; न उनका अन्त-समय देखने का मौका मुझे मिला, न उन्हें संसार-तपोभूमि में दुर्दशा-ग्रस्त प्रकट करके आदर्शवाद की रक्षा करने का लोभ मुझे है।

शशि को मैंने पत्नी-रूप में पाया। मेरे आनन्द का क्या कहना! जीवन की साध पूरी हुई। बरसों की साधना ने पका फल दिय। खूब खाया और बखेरा। एक बार तो ऐसा डूबा, कि तन-बदन और दीन-दुनिया का होश न रहा। सुख की वे घड़ियाँ देखते-देखते बीत गईं। उन्माद क्रमशः उतरने लगा। दुनियाँ कहाँ है—और मैं दुनिया में कहाँ हूँ, मन इस विवेचन में लगने लगा। कहूं—स्मृति के तख्ते पर धरिणी और नवीन का नाम कभी-कभी आने लगा।

शशि के विषय में कुछ कहना मैं भूले जाता हूँ। बात यह है कि यह काम अप्रिय लगता है। पर अप्रिय लगने पर भी पाठक की उत्सु-

कता को तो नहीं भूल सकता !

शशि मुझसे ठीक सलज्जा नव-वधू की तरह मिली । मेरे पाठक, मुझे अचरज हुआ, न उसके वेग्रापूर्ण उच्छ्वास मैंने सुने, न करुणापूर्ण रुदन ! ठेठ भारतीय वधू की नाईं उसने क्रमशः लज्जा का आवरण दूर किया, मुहब्बत और लाड़ के चोचलों में पिछड़ती गई, और अन्त में धीरे-धीरे दूध-जैसे निर्मल और स्वच्छ स्नेह का दर्शन दिया ।

तो, जब यह नशे का जमाना बीत चुका, तो मन को इधर-उधर चलने का अवकाश मिला । मैंने अभी कहा, कि स्मृति के तख्ते पर रह-रह कर धरिणी और नवीन का नाम भी आने लगा ।

शशि से अब तक कभी उनकी बात न चली थी । अब मैंने अनुभव किया, वह उन्हें भूल गई है । मन पूरी तरह उधर अटकने में अक्षम रहने लगा, तो मैंने बातों-बातों में एक दिन कह दिया । यानी, मजाक और दिल्लगी का नया जरिया पैदा करना चाहा । कहा—"एक बात पूछता हूँ ।"

वह बोली—"क्या ?"

"देखो, सच-सच बताना ।"

"जरूर"

"तुम्हें नवीन की याद आती है ?"

वह अस्त-व्यस्त थी, एकदम सम्हलकर उठ बैठी । उसके मुँह का सारा हास्य एक-बारगी विलुप्त हो गया, और स्थिर नेत्रों में पानी की झलक दिखाई देने लगी । स्तब्ध भाव से उसने मुझ पर जहरीला कटाक्ष-पात किया ।

पाठक मेरे साथ उदारता न करें । मेरी नीचता थी ! उस वक्त, मुद्दत के बाद, उन्माद उतरने पर, प्रेम का रस मन भरकर चखने पर, मेरे ऐसा प्रश्न करने का क्या मतलब हो सकता था ? मेरा मन इस अहङ्कार-भाव से भर उठा था—कि मैं विजयी हुआ ! जिसके लिए तरस रहा था, उस पर मेरा एकाधिपत्य है ! जिसकी चिट्ठी एक दिन

न्यामत थी, आज उसका सर्वस्व उपलब्ध है ! अभागा नवीन ! वह मेरे आगे तुच्छ है, क्षुद्र है, हेय है ! पाठक, सचमुच मेरे प्रश्न का यही अप्रत्यक्ष भाव था।

शशि का भाव देखकर मैं डर गया। उसकी मुद्रा एक-बारगी भय-ग्रस्ता हरिणी की-सी बन गई, और मानों किसी ने मेरे कान में झट से कह दिया—"सतीश ! तुमने छुपी आग में हाथ दे दिया !"

तो, मेरी बात का जवाब उसने कुछ न दिया मैं जवाब के लिये हठ करने क्यों लगा ? बल्कि बात उड़ा देने के खयाल से मैंने तो बहुत-सी इधर-उधर की, असम्बद्ध बातें कह डालीं।

शशि ने मेरी बातों से सहयोग करने की कोशिश की, पर मैंने प्रत्येक क्षण अनुभव किया कि पहले जैसी उत्फुल्लता न आनी थी, न आई।

मेरा मन भी उस दिन खिन्न हो गया। फिर भी, सम्हलकर मैंने अपना भाव प्रकट होने न दिया। उस दिन तरह-तरह के भावों से लदे हुए हम दोनों ने शयन किया।

सुबह उस घटना की याद धुँधली पड़ चुकी थी। शशि का मुँह भारी था। मेरा माथा ठनक उठा। उस दिन वह रोज की निस्बत ज्यादे तड़के उठी थी। शरीर पर एक मैली रेशमी धोती बाँध रक्खी थी, और सिर के बाल खुले हुए थे। मुझे उसके इस वेश में अस्वाभाविकता दिखाई दी। पर उस समय कुछ बोल न सका।

दिन-भर शर्माया-सा रहा। घर में ज्यादे बैठ भी न सका। हवा-खोरी से लौटने में साधारण देरी होगई, और रोटी खाते ही बाहर निकल गया।

पड़ोस में एक विधवा रहती है। रिश्ता न-जाने कहां का है, उसे मामी कहता हूँ। बड़ी धर्मात्मा है, और हमेशा खद्दर पहनती है। मुँह से सदा राम-नाम सुन लो। दिल में उसके प्रेम है, पर दुनिया को वह प्रेम शून्य समझती है। जहाँ किसी को प्रेम का दरिया दिखता है, वहां स्वार्थ का सूखा रेगिस्तान देखती है, और हमेशा सच्चे प्रेम के

उन्नत की बात सोचती रहती है। जैसे बेचारी ने दुनिया भर की घृणा ही पाई है, जहाँ कहीं प्रेम मिला है, वहाँ या तो धोखा उठाया है, या फिर उसे भोग नहीं सकी। मुझे उससे हमदर्दी है। जी होता है तब जाकर उसके पास बैठता हूँ। कभी-कभी, नजर पड़ने पर वह खुद भी मुझे बुला लेती है।

उस दिन भी वहाँ पहुँच गया। मामी बोली—"आज उदास हो ?"

"ना —बिलकुल नहीं।"

'जरूर। आखिर क्या हुआ ?'

मैंने पहले तो उसका प्रतिवाद किया, फिर टालने की कोशिश की। कहूँ, मैं खुद ही खुल-पड़ने को आतुर था।

उसने खुद ही कह दिया—"कुछ तकरार हुई थी ? ना भाई, शशि तो बेहद अच्छी है·······"

शशि की तारीफ से मन को सुख मिला; जैसे इस प्रशंसा के लिये मन में जगह बन गई थी। मुस्कराकर बोला—"निस्सन्देह !"

"देखो भइया, तुम अभी लड़के हो, इसी से समझाती हूँ। यह जवानी बड़ी बुरी है। इसमें ·······"

इससे आगे मामी एक साँस में न-जाने क्या-क्या कह गई, मैं सुन नहीं पाया। मैं शशि के बारे में सोच रहा था।

वाक्य प्रवाह समाप्त होने पर जब उनकी स्तब्धता खुली, तो सजग होकर बोल उठा—"नहीं तो मामी, हम लोग कभी नहीं लड़ते।"

मामी ने कहा—"दो बर्त्तन जहाँ इकट्ठे होंगे, आवाज होगी, और होगी। इसमें अचरज नहीं। न कुछ छिपाने ना शर्माने की बात है।

मैं हँसता-हँसता बोला—"पर मामी, हमारे यहाँ तो कोई ऐसी बात नहीं। हममें कभी झगड़ा नहीं हुआ, न होने की आशा है। हम दोनों में पूरा सद्भाव है।"

मामी ने मुँह बना लिया। जैसे मन-ही-मन कुछ कहा हो। मुँह से वह कुछ बोली नहीं।

देर ज्यादे न हो पाई, कि वह बोल पड़ी—"मेरी बात गाँठ बाँध लेना। अगर तुम शशि के गुणों को समझोगे नहीं, तो खट-पट शुरू हो जायगी। यह खुशी की बात है, कि दोनों में सद्भाव है, पर उसकी कीमत तभी है, जब हमेशा बना रहे।"

अधेड़ और अशिक्षिता मामी की मनोवैज्ञानिक क्षमता देखकर मैं चकित हुआ। मन-ही-मन मैंने उसकी तारीफ की, और कुछ कुण्ठित भी हुआ।

फिर दूसरी बात चलाने के इरादे से मैंने कहा—"क्यों मामी, मामा का स्वर्गवास हुए कितने दिन बीते ?"

मामी के कण्ठ से उसाँस निकल पड़ी। इस उसाँस में अतीत की कितनी वेदनाओं का सम्मिश्रण था।

विस्मित होकर मैंने हठ किया। तब मामी ने बताया—पिता ने छोटी उम्र में व्याह कर दिया। पति के घर सब-कुछ था। जवानी में व्यसन लग गये। सब जर-जायदाद बेचकर एक दिन कुछ फकीरों के साथ घर से निकल गये। तब से—चौबीस बरस बीते—किसी को उन का पता नहीं।

मामी के मन को जैसे और बहुत-सी बातें बोझिल किये हुए थीं। बात कहकर उसने रोना शुरू कर दिया।

थोड़ा धीरज-दिलासा पाकर ही मामी शान्त हो गई। तब मुझे मालूम हुआ—दाम्पत्य-सुख इस रमणी के निकट कैसी दुर्लभ वस्तु है, और क्यों वह इस सम्बन्ध में इतनी व्यग्र है।

सब सुनकर मैं बोला—"मामी, तुम तो इतने दिन उनके साथ रहीं। तुमने मामा के सुधार की चिन्ता नहीं की ?"

मामी—"भैय्या, मैं तो बच्ची थी। जब कुछ समझ आई—तो बात हाथ से बाहर हो चुकी थी। अब मैं समझती हूँ, शुरू में ही सावधानी की जरूरत थी। जवानी का बिगाड़ कभी नहीं सुधरता। दुनिया में दिखाई यही देता है। ठीक जवानी में बिगाड़ पैदा होता है।

—और बे-बात की बात पर।"

मैं—"तो तुमने इस विषय में खूब विचार किया है ?"

"और काम ही क्या था ? सारी उम्र इसी में बीती है।"

"तो मामी, तुम्हारे ख्याल में इस अनिवार्य कलह के निवारण का कोई उपाय भी है ?"

"है, पर मुश्किल।"

"क्या ?"

"स्वामी पर ज्यादे जिम्मेवारी है। औरत का दिल बहुत अजीब है। इतना अजीब कि बयान नहीं किया जा सकता। मर्द के दिल में विधाता की कारीगरी नहीं है। न इस कारीगरी को समझने की मर्द में ताकत है।"

मैं चुप रहा, और 'कुछ समझने-कुछ न समझने' का भाव प्रकट किया।

मामी ने उसी प्रवाह में कहा—"औरत का दिल बेहद कोमल है, पर साथ ही बेहद गहरा और सहनशील भी। सब तरह का अत्याचार और सब तरह की वेदना जो औरत दिल की तह में छिपाये रह सकती है, मर्द बच्चे की मजाल नहीं, कि उसे समझ सके। मर्द औरत के लुत्फ में जमीन-आसमान का अन्तर है। मर्द जिस चीज को जीवन का प्रसाद समझता है, औरत उसे हेय दृष्टि से देखती है। समाज के एक-तर्फा नियमों के कारण मर्द को औरत पर जिस तरह का आधिपत्य प्रदान किया गया है, औरत अनुभव करती है, वह अन्याय-पूर्ण है। पर यह युग मर्दों का है, इसलिये औरत अपनी स्वभाव-सुलभ शीलता के कारण उनका अनाचार सहन करती है।"

मामी की बातों से सन्तोष हो रहा था, और रस मिल रहा था।

"औरत सब सहती है, पर दिल उसका जलता रहता है। यह जलन मर्द पर गाज बनकर गिरती है, और इसलिए कलह का सूत्रपात होता है। याद रखना, इस कलह में औरत नहीं, मर्द ही जलता है। औरत

की भीतरी आग इतनी तेज होती है, कि इस बाहरी आग का असर उस पर नहीं होता। सच्ची बात यह है, कि बाहर-भीतर का तापमन समान रखने के लिये औरत को कलह करना पड़ता है। यही कारण है, औरत के कलह-प्रिया कहाने का।"

मामी की बातें मेरा विस्मय बढ़ा रही थीं।

"तुमने इसकी रोक का उपाय पूछा है। मैंने बताया, इस विषय में मर्द की बड़ी जिम्मेदारी है। उसे कोशिश करके अपने को औरत के अनुकूल बनाना चाहिये, उसके मनोभावों का आदर करना चाहिये, उस की प्रकृति का अध्ययन करना चाहिये। भाई, औरत जेल नहीं है, बहुत-बड़ी चीज है। मर्द उसे कब समझेगा!"

मामी की वक्तृता मुझे डुबाये ले रही थी।

"तुम कहोगे—मर्द गुलामी करे, औरत की? तुम्हारा संस्कार तुम्हारे मन में यह भाव पैदा कर सकता है? तुम्हारा अपराध नहीं। पर तुम अगर विचार करो, औरत की गुलामी और लाचारी का—तो तुम्हारा दिल फट जाय। तुम अगर तकलीफ करो, औरत का दिल समझने को, तो अपने को औरत के तलवे की चीज पाओ। तुम अगर काम लो उदारता से—तो औरत के त्याग और बलिदान पर झूम उठो; उसके फूल से दिल को कुशलता के लिए अपने को तुच्छ समझ बैठो। न भाई, मर्द को इतनी फुर्सत नहीं है। क्योंकि यह मर्द का जमाना है। मर्द का मस्तिष्क उर्वर है, मर्द तर्क कर सकता है, मर्द को सब साधन सुलभ हैं। मर्द—मर्द है, औरत—औरत। यह मर्द का जमाना है!"

मामी विद्रूप की हँसी हँस दीं!

३

मामी के पास से लौटकर मैं सीधा घर में आया। शशि कपड़ा सी रही थी। मुँह पर उसके वही उदासी थी। मामी ने मेरे मन का अंधेरा हटा दिया था। शशि का खयाल रखना होगा।

आते ही मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। शशि ने सिर उठाकर देखा। ओठों पर मुस्कराहट दिखाई दी। पर चेहरा सूखा हुआ था।

मैं हँसता-हँसता बोला—"अजब दिल्लगी है!"

उसने जिज्ञासा का भाव प्रकट किया।

"एक कुतिया गली में बैठी थी। दो कुत्ते कहीं से आ गये, और आपस में लड़ पड़े। देखते-देखते दोनों लहू-लुहान हो गये। एक तो बेहोश पड़ा है।"

शशि—"इसमें दिल्लगी……"

भाव उसका नदामत का था। कहूँ, मेरी हँसी नकली थी। मामी के कथनानुसार मैं शशि का मनोरंजन करना चाहता था। उसकी बात से कुण्ठित हुआ। सम्हलकर कहने लगा—"मैं सोचता हूं, प्रभुत्व कैसी अद्भुत वस्तु है! कुत्ता अपने क्षणिक प्रभुत्व के लिये जान पर खेल जाता है;—एक ऐसा प्राणी—जिस में तर्क का अभाव है, जिसका हृदय उच्च अभिलाषा और भावना से शून्य है। वाह रे प्रभुत्व। मुझे इसी पर हँसी आ रही है।"

शशि सिर झुकाकर कपड़ा सीने में लग गई।

मैंने अप्रतिभ होकर कहा—"तुम क्या कहती हो?"

"इसमें हँसने की क्या बात है ?"

बात मैंने बढ़ाई नहीं। शशि का मनोभाव अनुकूल न था। और समय मैं नाराज हो जाता, पर अब मुझे उसके भावों का आदर करना होगा।

कुछ देर बाद किताब बन्द करके मैं बाहर आया। बोला—"शशि, क्या आज उठोगी नहीं ?"

शशि ने चौंककर मेरी तरफ देखा।

मैंने मुस्कराकर कहा—"सब-कुछ आज ही सी डालोगी ?"

वह मुस्कराई नहीं, और सामान समेटने लगी।

उठी, तो मैंने हँसकर कहा—"आज चलोगी ?"

"कहाँ ?"

"बाइस्कोप।"

शशि बाइस्कोप की शौकीन है। उसने तुरन्त स्वीकार कर लिया।

कला-विहीन भारतीय फिल्म शशि को पसंद आते हैं। कला के विषय में उसके जो विचार हैं, उसका दिग्दर्शन उसके इस कथन से आपको मिलेगा। उसने एक दिन कहा था—"कला क्या वस्तु है ? शिक्षा से अंधे हुए, भले आदमियों का चोचला ! कला हिन्दुस्तानियों के लिये नहीं है। वह कोमल, पर साथ ही, भयानक वस्तु है। हिन्दुस्तानियों का दिल उतना कोमल नहीं है, न उतना समझदार है, न वैसा होने की जरूरत ही है। हिन्दुस्तानी तो हमेशा मजदूर रहेगा। इसी में उसका गौरव है। उसे तो सभी चीज मोटी, रूखी और भावुकताहीन सूरत में मिलनी चाहिये।"

उस दिन जिस फिल्म को देखा—वह बहुत घटिया दर्जे का था। कथानक बहुत ही साधारण और शिथिल था। एक युवती के दो प्रेमी हैं; एक राजा का लड़का, एक दीवान का। युवती राजा के लड़के को चाहती है। दीवान का लड़का षड्यन्त्र रचकर राजा को विष पिला देता है, और राजा के लड़के पर कलङ्क लगाकर जन-साधारण में निन्द्य बना

देता है। इधर युवती का पिता राजा के लड़के से कन्या का विवाह अस्वीकार कर देता है। शादी दीवान के लड़के से स्थिर हो जाती है। फिर ऐन शादी के वक्त राज-पुत्र आकर अपनी निर्दोषिता का प्रमाण देता है, और असली प्रेमी-प्रेमिका का विवाह हो जाता है।

मैं केवल शशि का दिल बहलाने आया था। फिल्म मुझे रुचा नहीं। शशि ने उसे बड़े ध्यान से देखा। बीच-बीच में मुझसे प्रश्न भी करती जाती थी। मैंने यथा-सम्भव उसका दिल बहलया, और कल की उदासी दूर हुई।

रास्ते में मेरी यह धारणा पुष्ट होने लगी "राजा का लड़का बड़ा बहादुर था।"—"और लड़की तो बड़ी ही समझदार थी।" इसी तरह की टीका-टिप्पणी करते हुए, अन्त में उसने एक वाक्य कहा था। वह मुझे याद है। "बेचारी की मनो-कामना पूर्ण हो गई!"

यह कहकर वह सहसा चुप हो गई थी। मैं सजग हो गया। उसके मुँह पर फिर वही उदासी थी। मैंने हँसकर पूछा—"तो तुम्हारी समझ में लड़की बड़ी समझदार थी?"

उसने मेरी तरफ देखा, और दो पल रुककर मुस्कराने की कोशिश की। पर यह मुस्कराहट तथ्यहीन थी। मैंने इसे महत्व न दिया। उसके भीतर की ज्वाला का अनुमान मैंने कर लिया। उसका अन्तिम वाक्य बराबर मेरे कानों में गूँज रहा था—"बेचारी की मनोकामना पूर्ण हुई!" मेरा मन चोर था। रात की, और सारे दिन की बात ताजी थी। मैंने ठीक अर्थ लगाया। शशि कोशिश करके मुझे अपनी मुस्कराहट में भुलाना चाहती है।

मैं गम्भीर भाव से बोला—"हिन्दुस्तानी फिल्म बहुत ही खराब और पिछड़े हुए होते हैं।"

इस वक्त उसने मेरी बात का प्रतिवाद नहीं किया। कहूँ, यही उसकी दुर्बलता थी। समझ गया—शशि का दिल बहलाने को किसी तेज मनोरंजन की जरूरत है।

जिस घर में मैं रहता था, उसके पिछवाड़े एक बागीचा था। बहुत दिन हुए, तब पिताजी खुद इस मकान में रहते थे। बागीचा उजाड़-सा पड़ा था। विवाह के बाद मैं जिस बागीचे में विहार करता रहा, उसके आगे यह तुच्छ पदार्थ था, इसलिए मैंने बागीचे की तरफ ध्यान न दिया। आज उसे साफ कराया, और टेनिस का प्रबन्ध किया।

तब रोज टेनिस होने लगी। धीरे-धीरे शशि का हाथ मँजने लगा। कहना चाहिये—मनोरंजन काफी तेज था, दिल उसका बहलने लगा।

४

●●●

शशि का मन बदलने-सा लगा। खेल में उसका जी लगता था। मैं सदा हँसता रहता, वह भी प्रफुल्ल भाव से मेरे हास्य में सहयोग देने लगी। चेहरा उसका खिला-खिला रहने लगा। जीवन संयमित और सुखी बनने लगा।

तब से कभी भूलकर भी नवीन का जिक्र न चलाया। मामी की बात गाँठ बाँध ली। उस जिक्र से शशि के मनोभावों को चोट पहुँचती है। इसलिए उस बात का खयाल न करना ही कल्याणकर है।

× × × ×

पर नवीन के नाम से शशि पर ऐसा प्रभाव क्यों हुआ? उस नाम में क्या जादू है? क्या अब तक उसके प्रति शशि के मन में इतना द्रव है? मैं इसे दुर्बलता कहूँगा। तब तो मुझे समझना चाहिये—मैंने अपने लिये 'उच्छिष्ट'-विशेषण का जो उपयोग किया था, वह गलत नहीं था।

कुछ दिन बीतने पर जब मैंने पाया—शशि के दिल से यह बात

भूल गई है, तो उक्त भाव आ-आकर मुझे परेशान करने लगे।

पुरुष अपना इस तरह का अपमान सहन करने का अभ्यस्त नहीं है। मैं भी इसी तरह का एक पुरुष था।—मामी की बातें न सुनता, तो बहुत ही निम्न-कोटि का पुरुष था।

अब वह बात सुने, समय बीत चुका। असर हल्का हो गया। मन शङ्का में पड़ गया। शशि मुझे क्या समझती है? मेरे प्रति मन में क्या भाव रखती है? नवीन के नाम पर जब वह इतना द्रवित हो सकती है, तो क्यों न उसका मन उसी की याद से ओत-प्रोत समझूँ? मेरे लिए उसके हृदय में कहाँ जगह होगी?

तो क्या उसका हँसना, मिलना और प्यार अपनी तह में कृत्रिमता छिपाये हुए है? इस विचार ने मुझे मर्माहत कर दिया। यह मुझसे सहन न होगा। शशि से इसका जवाब तलब करना चाहिये।

कई बार कहने की कोशिश की, मौका न मिला! कई बार मौका मिला, मुँह न खुला। मामी की बात, और उस घटना की याद आकर जीभ रोक लेता था। शशि सदा हँसती रहती थी। उसके इस सहास्य मुख को देखता था, और चुप रह जाता था। कहूँ—मुझमें दुर्बलता थी। मैं डरता था, अगर उसका दिल दुखा, तो मुझे परेशानी होगी। ओह! पाठक, यह मेरा कैसा स्वार्थ था!

मामी से मुझे आशा थी। उसके पास पहुँचकर समाधान हो सकेगा—यही सोचकर मैं जा पहुँचा।

मामी ने बोरी बिछाकर मेरा स्वागत किया। सिर झुकाकर मैं बैठ गया। माथा उठाने में कठिनाई होती थी। मानो, जो बात कहने आया हूँ, उसके भार से दबा जा रहा हूं।

उदासी का अनुभव करने पर भी मामी ने उस दिन बात न उठाई। कुशल-समाचार पूछने से मेरा मतलब नहीं सध सकता था, न आगत-स्वागत और स्नेह-भाव से। मुझे इस वक्त तेज सहानुभूति की जरूरत थी। किसी के आगे खुल पड़ने को जी चाहता था।

हठात् मामी ने कहा—"तबियत खराब रहती है क्या? चेहरा उतरा हुआ है।"

चेहरा उतरा हुआ था, या नहीं—और यदि हाँ, तो उसका असली कारण क्या था—यह समझने का कष्ट मैंने नहीं किया। बोला—"तबियत अच्छी है, पर मन सुखी नहीं है।"

मामी—"मन का सुखी न रहना भी तो स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है।"

मैं—"देखता हूं—मैं सुखी रह-ही नहीं सकता।"

मामी—"यह तुम्हारा लड़कपन है। मन का सुख है क्या—यह समझ लेने पर उसे बहुत आसानी से उपलब्ध किया जा सकता है।"

मैंने जिज्ञासा का भाव प्रकट किया।

मामी—"मैं समझती हूँ—मन सुखमय है; सुख के अतिरिक्त मन में और कुछ है ही नहीं। मैं नहीं जानती, वैज्ञानिक-लोग 'मन' को क्या व्याख्या करते हैं, पर मेरी समझ में तो जीवन की सद्‌भावनाओं का पुञ्ज ही मन है। मन कभी दुखी नहीं होता, दुख मन पर चिपक जाते हैं। इन दुखों के चिपकने पर भी मन का अस्तित्व पृथक् ही है। ठीक उसी तरह, जैसे आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। मेरी समझ में, अगर देखा जाय, तो दुख मन का स्वभाव नहीं है।"

मामी एक साँस में सब-कुछ कह गई। जो कुछ मैंने समझा, उस पर फिर शंका हुई—"ऐसा कहीं देखा भी जाता है, जहाँ दुख हो और उसे अनुभव न किया जाय?"

मामी—"देखा जाता है। हम और तुम योगियों की कहानियाँ सुनते हैं। योगी तपस्या करते हैं। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सहते हैं। वन्य-पशु उन पर आक्रमण करते हैं, पर वे अविचलित भाव से ध्यान-मग्न रहते हैं। हम, यह सुनते हैं, तो अचरज करते हैं। पर अचरज करना नहीं चाहिये। बाहरी दुख-सुख से हम इसलिए प्रभावित होते हैं, कि हमने मन को उसके स्वाभाविक रूप में नहीं पहचाना है,

और हम उसे संसार के दुख-सुख से चिपक जाने देते हैं। योगी के विषय में यह बात नहीं है। उसका मन सांसारिक दुख-सुख से संबंध तोड़ लेता है। इसीलिए वह कुछ अनुभव नहीं करता। और इसीलिए उसकी सहन-शक्ति में हमें अचरज नहीं करना चाहिये। हाँ, मन को उसके उज्ज्वल रूप में समझ लेने के लिये हम उसकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा कर सकते हैं; क्योंकि यह काम कठिन है। इसी में जीवन का रहस्य छिपा हुआ है।"

मामी से तर्क करने को जी चाहता था। पर इस समय तर्क करने नहीं आया था। बोला—"तुम्हारी उस दिन की बात पर मैंने अमल किया था। पर मुझे सन्तोष न हुआ।"

मामी ने पूछा—"हुआ क्या?"

मैं—"मैं शशि को देवी बनाकर पूज रहा हूँ, उसके प्रत्येक भाव पर सतर्क दृष्टि रखता हूं, उसकी प्रत्येक इच्छापूर्ति के लिए सदा तत्पर रहता हूँ। पर मुझे सन्तोष नहीं होता।"

मामी ने क्षण-भर सोचा। फिर कहा—हर्ज न हो, तो सारी बात कहो।"

तब मुझे खुल-पड़ने का मौका मिला। धरणी, नवीन, शशि की, और अपनी सारी बात सुना गया।

सुनकर मामी गम्भीर होगई। कई मिनट तक कुछ बोली नहीं। तब मैंने कहा—"तुमने सब सुना?"

"हाँ, बात अजीब है। शशि के लिये मेरे मन में प्रशंसा है।"

"और मेरे लिये?"

"तुम्हारे लिये? तुम्हारे लिये हमदर्दी है। तुम दया के पात्र हो।"

मामी का मुँह विवर्ण हो गया।

मैं क्षुभित हुआ। मुँह से कुछ बोला नहीं।

दो मिनट बाद मामी शान्त हुई। स्वस्थ-भाव से बोलीं—"सतीश, तुम्हें मानना होगा, तुम्हारी कमजोरी थी।"

"हो सकता है।"

चिट्ठी भेजने की बात मुझे याद थी। मेरे पक्ष में वह बड़ी भारी दलील थी। पर मैं उसे पेश न कर सका।

मामी—"अब तुम शशि से क्या उम्मीद रखते हो ?"

मैं—"उम्मीद मैं कुछ नहीं रखता। मुझे छल नहीं चाहिये, सच्चा स्नेह चाहिये।"

मामी—"मैं एक बात कहती हूँ। उसे सुनकर तुम बुरा मान सकते हो। तुम स्वार्थी हो। कह सकती हूँ—सभी स्वार्थी होते हैं। तुम जो चाहते हो, वह सच्चा स्नेह नहीं है; वह है तीव्रतर आकर्षण और भोग का कोई नया मार्ग ! तुम शायद इसका विरोध करो। मैं पूछती हूँ—जब ब्याह हुआ था, और यौवन का रंग पूरी तेजी पर था, तब तुम्हें सच्चे स्नेह की तलाश क्यों नहीं हुई ? अब वह रंग उतर गया है। भोग का जो दुर्लभ साधन तब सुलभ हो गया था, और दूर रहनेवाला जो आकर्षण तब निकट आ गया था, उसी के उपभोग में तुम रत होगये। अब वह भोग—भोग नहीं रहा, न वह आकर्षण—आकर्षण ही। अब तुम किस खोज में हो—यह मुझे बताना नहीं होगा।"

मामी ने मुझे नंगा कर दिया। उसने वह बात ढूँढ़ली, जो खुद मुझे नहीं पा रही थी। माथा मेरा शर्म-से गड़ गया।

मामी—"देखो सतीश, शर्माने की बात नहीं है। सारी दुनियाँ नहीं शर्माती, इसलिए तुम भी मत शर्माओ। जिस कमजोरी से दुनियाँ बरी नहीं है, क्यों आशा करते हो, कि तुम होगे ! पर तुम्हें तथ्य का पता लग गया। इसलिए मेरी विनय है, तुम अपने जीवन में उसका लाभ उठाओ। जो और इस तथ्य को जान जाते हैं, उनका जीवन सुधर जाता है। मैं चाहती हूँ—तुम्हारा भी सुधरे।"

मैंने गद्गद् होकर पूछा—"तो तुम मुझे क्या करने की सलाह देती हो ?"

"सहयोग। तुम समझदार हो। विचार करोगे, तो समझ लोगे। किसी की दुर्बलताओं पर दृष्टि-पात न करो। तुमको हमेशा जिसके पास रहना है, हृदय की सम्पूर्ण सहानुभूति उसके लिये अर्पित करनी होगी। उसमें जो भी वस्तु प्रेम की है, उस पर अपना समस्त प्रेम न्यौछावर करना होगा। इस प्रेम और सहानुभूति से उसे इतना दबा दो, कि विरक्ति के लिये स्थान न रहे। उसकी दुर्बलता तुम्हारे सामने आ सकती है। पर या तो, उसे दर-गुजर कर दो, या फिर अपनी दुर्बल-ताओं पर विचार करो। तुममें दुर्बलता होंगी-ही। पर अगर नहीं है, तो तुम उसकी दुर्बलता के लिये उस पर दया करो, और उसके सहायक बनकर सच्चे भाव से इस दुर्बलता को दूर हटाने का प्रयत्न करो। तभी तुम्हें सुख मिलेगा,—और तभी तुम्हें जीवन के उस पार पहुँचने का रास्ता मिलेगा।"

क्या मामी के इस मूल-मन्त्र का मैं पालन कर सकूँगा ?

५

●●●

मेरे एक घनिष्ठ मित्र के यहाँ भोज था। शशि के साथ मैं उसमें शामिल हुआ। मित्र नई रोशनी के आदमी थे। भोज भी उनके अनु-रूप ही था। अनेक गण्य-मान्य स्त्री-पुरुष वहाँ उपस्थित थे। उनमें-से कुछ मेरे पूर्व परिचित थे, जो नहीं थे—वे वहाँ परिचित करा दिये गये।

जिन मित्र का निमन्त्रण था, उनकी पत्नी बड़ी मुखर और वाचाल थीं। मुझसे उनकी बेतकल्लुफी थी। शशि से अब तक उनकी भेंट न हुई थी। देखते ही हँसकर बोलीं—"सतीश ! बीबी तो बड़ी अच्छी पा गये हो।"

उसी दिन सुबह शशि से कुछ अप्रिय बातें कह चुका था। शशि उन्हें सुनकर चुप रह गई थी। उनका प्रभाव मेरे और उसके दिल पर अभी तक बाकी था। अबतक दोनों का मन बँधा-बँधा-सा था। अब सहारा पाकर मैं खुल पड़ा।

मित्र की पत्नी ने शशि का मुस्कराना देख लिया। और शशि के प्रति बोली—"जी हाँ, मैंने आपसे छिपाकर नहीं कहा। यह खुशी की बात है, कि आपने सुन लिया।"

शशि के दाँत दिखने लगे। यह देखकर मैं भी हँसने लगा। धीमे स्वर में मैंने मित्र की पत्नी का परिचय शशि को दिया।

तब तो दोनों पास ही बैठ गईं, और दोनों की वह घुटी, कि भोज और मेहमानों की सुध ही न रही। हममें-से कुछ का ध्यान उधर पड़ता था, और अचरज होता था।

भोज खत्म हुआ, तो मित्र की पत्नी शशि के साथ दूसरे कमरे में चली गईं। सब लोग धीरे-धीरे विदा होने लगे। शशि लौटी नहीं, इसलिए मुझे रुकना पड़ा।

तब मित्र आ पहुँचे, और हाथ में हाथ डालकर मुझे भीतर ले चले।

सजे हुए ड्राँईङ्ग-रूम में दोनों बैठी थीं। मित्र-महोदय ने द्वार पर खड़े होकर अदब-से कहा—"भीतर आ सकता हूँ?"

गृहिणी खिलखिलाकर हँस पड़ी। हमने हँसते हुए प्रवेश किया।

हम दोनों आसीन हुए। मित्र ने पूछा—"आज तो कतई पौराणिकता का दर्शन पागया।"

पत्नी—"कैसे?"

मित्र—"देवरानी को सीख देना जेठी बहुओं का धर्म होता है। पर यह बात पुरानी है। आज एक ग्रेजुएट-महिला को वही करते देख रहा हूँ।"

मैं—"जी, अगर ऐसा है, तो भाभी मुझपर बड़ा भारी उपकार

कर रही हैं।"

शशि कुछ बोल नहीं रही थी—मेरी बात पर सिर्फ एक बार मेरी तरफ ताक दिया।

मैंने उसकी आँखों में पढ़ा—उसकी विषण्णता अभी दूर नहीं हुई है। मैं कुछ सहम गया। सुबह की घटना में ज्यादती मेरी ही थी। मैं तब से मन-ही-मन बराबर शर्मा रहा था। शशि की स्तब्धता मुझे काटे खाती थी। रह-रह-कर झुँझलाता भी था। इस समय उसकी गम्भीरता नष्ट होने का समय मुझे दिखाई दिया था। पर नहीं, मालूम हुआ, ऐसा सोचना मेरा भ्रम था; शशि के दिल पर हल्का घाव नहीं लगा करता।

मित्र की पत्नी कह रही थीं—"वास्तव में तुम पर उपकार किया। तुम्हें स्वीकार करना चाहिये।"

मैं केवल हँस दिया। शशि की उस नजर ने बोलने के लिए मुझे उत्साह न दिया।

मित्र ने मुझसे कहा—"अब यह बताओ, आजकल करते क्या हो?—दो हफ्ते से नजर-ही नहीं पड़े; कहीं सर्विस कर ली है?"

बोलने के लिए मन पर जोर डालना पड़ा। बोला—"इस विषय में पिताजी ने निश्चित कर दिया है। सर्विस की न मेरी इच्छा है, न जरूरत।"

मित्र—"क्यों? मेरी समझ में तो इच्छा और जरूरत दोनों ही होनी चाहिये।"

मैं—"मेरा खयाल है, पेट-पालन के लिए ही सर्विस की तलाश की जाती है। इसकी चिन्ता मेरी पिताजी ने दूर कर दी है।"

"इस तरफ से निश्चिन्त रहना तुम्हारी भूल है। साधु तबियत के इन्सान रुपए को गन्दी और नापाक चीज बताते हैं। मुझे उनसे विरोध नहीं। दुनियादार आदमी के लिये रुपए के बराबर कोई चीज जरूरी नहीं। तुम्हारी उम्र पैदा करने की है। खूब कमाओ, और खाओ।

समय आ सकता है, जब तुम्हें रुपये से वैराग्य हो, और तुम इस संसार को छोड़ना चाहो। पर याद रक्खो, सिर्फ अपने लिए ही तुम पैदा नहीं कर रहे हो, सिर्फ अपनी ही चिन्ता तुम्हें नहीं है; इसका हकदार भी कोई पैदा हो सकता है। (शशि कुछ शर्मा सी गई। भाभी भी मुस्करा पड़ी, और मित्र भी।) सोचो अगर तुम्हारे पिता न कमाते, तो तुम कैसे निश्चिन्त रह सकते ? इसलिए मेरी राय है, मन में ऐसे विचार न रक्खो।"

"तो आपकी राय है—नौकरी खोजूं ?"

"नौकरी या, व्यापार।"

"न, व्यापार का जीव मैं नहीं हूँ। नौकरी भी मेरे लिये मुश्किल लगती है, पर उसे किसी तरह निभा लूँगा। व्यापार का झन्झट और उत्तरदायित्व मेरे मन की मौज का नाश मार देगा।"

"यह भ्रम है। मौज की व्याख्या भी समय समय पर बदलती रहती है। व्यापार में फँसने पर मनुष्य को व्यापारिक सफलताओं में ही मौज का अनुभव होने लगता है। तुम्हें उनका अनुभव नहीं है। मैं चाहता हूँ, तुम कुछ करो। मगर मुझे इससे बहस नहीं है। मैं चाहता हूँ, तुम कुछ करो। व्यापार नहीं; तो नौकरी ही सही।"

"पर पहले तो मुझे सोचना होगा।"

"उम्मीद करता हूँ, सोचकर मुझसे disscuss कर लोगे। काम में लगने के कई लाभ मैंने बताये नहीं है। जरूरत हुई तो बताऊँगा। बहरहाल तुम्हें किसी काम में लगना ही चाहिये। यही मेरी अन्तिम सलाह है।"

भाभी हँसकर बोली—"और भोज की तैयारी भी कर रखना। उस के लिये पिताजी को कष्ट न देना। अपनी जेब से खर्च करना ही शोभा देगा। करलो झटपट जमा। अभी कई कई महीने की देर है। क्यों शशि ?"

शशि को इस पर शर्मा जाना पड़ा। कहूँ, मैंने गौरव का अनुभव

किया। पाठक, यही पुरुष का स्वार्थ है !

मित्र—"तुम्हारे वैराग्य-भाव को मैं जानता हूँ। यह खुशी की बात है कि तुम कुछ दिन के लिए किसी रस में तन्मय हो सके ! पर यह रस फीका पड़ने पर तुम्हें खाने को दौड़ेगा। (शशि का और मेरा—दोनों का ही—भाव बदलने लगा।) मेरी बात गाँठ में बाँध रखना। इसीलिये मेरी राय है, इस रस को फीका न होने दो। कुछ देर के लिये पर्दे पर से हट जाया करो। और तरह उसे पकने का अवसर दो।"

भाभी कुढ़ गईं। जाहिरा तौर से बात मेरे खिलाफ थी। पर स्त्री-मात्र के खिलाफ भी तो कम नहीं थी। इसे वह सहन न कर सकीं। बोल ही तो उठीं—"इसी आदत से मैं घबराती हूँ। उपदेश का मौका होता है। जरा सी समझ········"

मित्र झेंप गये। 'समझ' पर आक्रमण भी उन्होंने सह लिया। अब जो चुप्पी साधी, तो कई मिनट तक एक शब्द न बोले।

उनकी रक्षा के लिये मुझे बोलना पड़ा।

"आपकी सलाह पर मैं गौर करूँगा। मुझे वह 'अपील' करती है। हो सका, तो उस पर अमल करूँगा।"

मित्र महोदय के भाव में कोई प्रकट अन्तर न पड़ा। पर मैंने अनुभव किया—मन-ही-मन उन्हें खुशी हुई है।

शशि मेरी इस बात से भी सन्तुष्ट न हुई। उसके मुँह का भाव मुझसे छिपा न रह सका।

भाभी ने सहसा शशि का हाथ पकड़ा, और खड़ी हो गईं। बोली—"चलो यहाँ से चलें।"

मैं भी खड़ा हो गया। "अब तो जायेंगे। काफी देर हो चुकी।"

शशि कुछ बोली नहीं। उसने ललचाई दृष्टि से भाभी को देखा—जैसे उसमें कोई स्वर्गीय पदार्थ पाया हो, और अब जिसे छोड़ते उसे दुःख होता है। फिर मेरी तरफ ताककर उसने उपेक्षा से आँखें छिपा ही लीं।

मुझे उसका भाव अच्छा न लगा। मन में क्षोभ का उदय होगया। स्वाभाविक स्वामित्व-प्रदर्शन का लोभ भी अब मैं रोक न सका। माथे साथे पर मेरे बल पड़ गये। मैं चलने को तैयार हो गया।

शशि पर ठीक उसी समय मेरी निगाह पड़ गई थी। उसका चेहरा अकथनीय उद्वेग से रंग उठा था। उसने दयार्द्र नेत्रों से मेरी तरफ देखा। मैं सिर से पैर तक एक बार काँप उठा। पर उस समय चल पड़ना ही मैंने उचित समझा।

चल पड़े, तो मित्र ने अपेक्षाकृत उच्चतर स्वर में कहा—"तो गौर करोगे न? मेरी बात गाँठ बाँध लेना···"

मैंने क्षण के सूक्ष्म भाग तक रुककर कहा—"गौर मैं कर लूँगा, पर निर्णय पक्ष में ही होगा।"

मित्र—"ऐसा! दफ्तर में दो जगहें खाली हैं—तो प्रयत्न करूँ?"

मैं—"कर सकते हैं। धन्यवाद दूँगा।"

मित्र की पत्नी कुछ कुढ़ सी गईं।

शशि का भाव मैंने देखा नहीं।

६

●●●

मित्र की कोशिश से मुझे नौकरी मिल गई? दिन बीतने लगे। शशि को मेरी नौकरी से सन्तोष न था। छः सात घण्टे में व्याकुल सी हो जाती थी। मेरा मन में रह-रहकर गुदगुदी हो उठती थी। मेरा स्वार्थ! मैं उसको इस व्याकुलता से किसी अकथ्य सुख का अनुभव करता था।

मित-भाषण शशि की आदत थी। जब मन पर ज्यादे जोर पड़ता

था, तभी मन की बात बाहर निकलती थी। एक दिन जाते वक्त कहने लगी—"नौकरी में आनन्द मिलता है?"

मैंने गर्व का अनुभव किया। बनकर बोला—"नहीं क्यों?"

वह—"मैं पूछती हूँ, तुम सूखने क्यों लगे?"

उसकी बात पर मैंने तुरन्त विश्वास कर लिया। यानी अपने आप को धोखा दिया, और अपने प्रति मन में दया उत्पन्न कर ली। विनीत स्वर में बोला—"नहीं तो—पहले से मोटा हूँ।"

वह—"मेरी आँखों को धोखा नहीं हो सकता, न झूठ बोलने की मेरी इच्छा है। मैं देखती हूँ, तुम दिन दिन क्षीण हो रहे हो।"

उसकी सहानुभूति की तह में छिपी हुए विरक्ति को न देख सका। मैं तो मन-ही-मन नाच उठने की इच्छा का अनुभव कर रहा था। मेरी तपस्या ही का यह फल है। शशि का सिंहासन हिल गया! उसकी मूकता मैंने तोड़ दी। उसका हृदय द्रवित हो गया।

अब खूब उदास बनकर मैंने मुँह लटका लिया।

मैंने आशा की थी, शशि आग्रह करेगी। पर उसने वैसा न किया। बोली—"तुम जानो। मेरी राय में तुम्हें प्रसन्न रहना चाहिये।"

कहकर उसने जाने का उपक्रम किया। मैं अप्रतिभ हो गया। हृदय की दुर्बलता बाहर बह निकली। मैंने उसका हाथ पकड़ लिया।

ऊंगलियाँ छूते ही वह ठहर गई।—जैसे ठहरने का ही उसका इरादा था। अपनी भाव-हीन आँखें उसने मेरे चेहरे पर जमा दीं।

मुझे एक घटना की याद आ गइ। स्कूल के दिन थे। शशि शायद आठवीं में पढ़ती थी। मैं कालेज में था। एक सन्ध्या को मैं कुछ इरादा करके घर गया था। वह अलग कमरे में बैठी, कसीदा काढ़ रही थी। मेरी आहट उसने सुनी नहीं। मैंने द्वार पर खड़े रहकर अपने इरादे को दोहराया, और भीतर घुसा। मुझे देखकर वह खड़ी हो गई। कुछ न कहकर मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। तब उसने इसी भाव से मुझे ताका था। वह दृश्य अब आँखों आगे से घूम गया। उसके उस भाव-हीन

मुख के आगे तब मैं ठहर नहीं सका था। अब मुझमें ढिठाई की मात्रा आ गई थी। मैं पराजित और विस्मित भाव से उसे ताकने लगा।

उसने कहा—"कहो।"

मैं—"तुम नौकरी की बात पूछतीं थीं न?"

वह—"हाँ, मैं कहती थी, अगर नौकरी में आनन्द नहीं मिलता, तो सिर्फ मुझसे ओझल होने के लिये शरीर सुखाना पाप है।"

चिनगारी सी छू गई। पर मैंने सह लिया। कहा—"शशि!"

उसने कहा—"कहो।"

मैंने पूछा—"क्या तुम्हारा ऐसा विचार है?"

उड़ती-सी आवाज में उसने कहा—"तुम्हीं ने तो ऐसा विचार मन में लाने पर मजबूर किया।"

कह नहीं सकता, इसका ठीक मतलब मैं समझा, या नहीं। लेकिन प्रकट यह किया कि समझा—और ठीक समझा। बोला—"यह तुम्हारी निर्दयता है।" उसके ओठ पर मुस्कराहट दिखाई दी।

मैं फिर बोला—"काम-काज करके कुछ पैदा करना हर एक मर्द का काम है; दुनियां जो करती है, वही करके, मैं समझता हूँ, मैं गलती नहीं कर रहा हूँ।"

मुस्कराहट लुप्त हो गई। वह बोली—"मैं तुम से बहस नहीं करती। न तुम्हारा दिल दुखाना मुझे अभीष्ट है। मैं सीधे सादे शब्दों में पूछना चाहती हूँ—घर तुम्हें भाता नहीं क्या?"

उसकी बात में मैंने पराजय पाई। इससे सुखी हुआ। गम्भीर हो कर बोला—"तुम्हारी ऐसी धारणा क्यों हुई?"

वह—"कोई वैज्ञानिक कारण बता सकना मेरी सामर्थ्य नहीं। निस्संदेह मेरी ऐसी धारणा है। यह निश्चय करने में मेरा मन अभी आगा-पीछा कर रहा है, कि घर में मेरा रहना ही इस विरक्ति का कारण है, या कुछ और।"

मेरी इच्छा हुई, और मैंने कोशिश भी की कि मैं खुल पड़ूँ, पर

सफल न हुआ। मन पर छल और कृत्रिमता का पर्दा पड़ा हुआ था। सिर झुकाकर रह गया।

एक मिनट तक वह निस्तब्ध रही। ऐसे अवसर पर एक मिनट का समय पहाड़ है। तब मैंने कोशिश करके सिर ऊपर उठाया। जो देखा, उसने शरीर में कंपन पैदा कर दिया। मैंने देखा—उसकी आँखें आँसुओं से भारी हो रही हैं।

मैंने समझ लिया—बात हद से बढ़ गई है। मुझसे नासमझी हुई, क्लेश और ग्लानि से मेरा हृदय भर उठा। दो क्षण में दो तरह की इच्छा मेरे मन में उत्पन्न हुई। पहली यह कि उसे बाहु-पाश में बाँधकर स्नेह-रस में डुबादूँ, दूसरी यह कि इसी-दम बाहर चला जाऊँ।

नहीं कह सकता, कौन-सी इच्छा बलवती सिद्ध होती, अगर वह अकस्मात् वहाँ से चल न देती।

मैं उसके पीछे चला। अपने कमरे में पहुँचकर उसने किवाड़ बन्द कर लिया। भीतर से उसका गद्गद कण्ठस्वर मुझे सुनाई दिया—"जाओ!"

कई मिनट मैं भारी हृदय से वहीं खड़ा रहा, तब धीरे-धीरे दफ्तर चल दिया।

७

●●●

डिग्री-समेत मेरे मित्र का नाम नक्लराय बी०ए० था। भोज के बाद कई बार मैं और शशि उनके यहाँ गये थे, और कई बार वे भी सपत्नीक मेरे घर आये थे! पत्नि के द्वारा शायद शशि के विषय की कुछ बातें

उन्हें मालूम हो गईं थीं। अपने और अपने आन्तरिक जीवन के विषय में उनकी ममता, सहानुभूति का मैं यही कारण समझता था। उस दिन दफ्तर में कई बार उन्होंने मेरे मुँह की तरफ़ देखा। तब दोपहर को मौका पाकर मुझे एकान्त में ले गये। पिता के-से-स्नेह-स्निग्ध स्वर में उन्होंने पूछा—"क्यों, तबियत तो ठीक है?"

मैं क्षण-भर ठहरा। 'ठहरा' न कहकर कहूँ—ठहरना पड़ा। तब आँसू बड़ा ज़ोर करके बाहर आ गये। गला मेरा भर गया। बोला—"नौकरी छोड़ दूँगा।"

"क्यों खैर तो है? क्यों छोड़ोगे नौकरी?"

उन्होंने प्रश्न तिहराया, तो जबाब देने योग्य हो सका—"जी नहीं लगता।"

मैं उनके कन्धे पर सिर रखकर ठेठ बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगा।

शायद नवलराय की आँखें भर आईं थीं। आँसू चीज ही ऐसी है। किस आग में इससे ज्यादे पिघलाने की शक्ति है?

उन्होंने मुझे दिलासा दिया, और प्यार के साथ पुचकारा। इस शीतल स्नेह ने शीघ्र ही मुझे सम्भाल लिया।

ड्यूटी का ख़याल मैं और वह दोनों ही भूल गये। थोड़ी देर चुप रहकर नवलराय ने मुझे स्वस्थ होने का मौक़ा दिया तब बड़े प्यार से कहा—"एक बात बताओगे?"

मैंने खिन्न भाव से उनकी तरफ ताक किया। यानी बताने का वादा किया।

उन्होंने ऐन कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"डोंएट यू लव योर वाइफ?"*

एक बारगी मैं कुछ उत्तर न दे सका।

---

* "पत्नी से प्यार नहीं क्या?"

उन्हें अपना प्रश्न दोहराना न पड़ा, कि मैंने कहा—"ऐसा तो नहीं है।"

वह—"यानी ?"

मैं—"उस पर मेरा हार्दिक प्रेम है। उसे प्रसन्न करने के लिये मैं सब कुछ करने को तैयार रहता हूँ। उसके लिए अपने शारीरिक या मानसिक कष्ट की भी कुछ परवाह नहीं करता। उसकी इच्छाओं के सर्वथा अनुकूल रहना ही मैंने अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया है।"

वह—"और तुम कहते हो, तुम उसे प्यार करते हो ?"

मैं—"निस्सन्देह।"

वह—"कैसी भारी भूल है! तुम उसे प्यार करते हो, और उसे प्रसन्न रखने के लिए तुम्हें अपने शारीरिक या मानसिक कष्ट की पर्वाह न करने की आवश्यकता भी पड़ती है! यह कैसी परस्पर विरोधी बातें हैं!"

मुझे कोई विरोध दिखाई न दिया।—हक्का-बक्का-सा नवलराय को ताकता रह गया।

नवलराय कहने लगे—"मेरा खयाल है, तुम उसे प्यार नहीं करते—तुम्हारे दिल का सारा प्यार उस पर नहीं है। तम्हें मानना चाहिये—तुम अपने को धोखा देते हो। जरूर तुम्हारे प्रेम में कहीं कमी है, तभी तो उसे प्यार करने के लिए तुम्हें दिल पर जोर डालना पड़ता। यही तुम्हारी दुर्बलता है। अगर प्रेम हो तो यह अनुभव क्यों करते हो, कि तुम उसके लिए कष्ट की कुछ पर्वाह नहीं करते, और उसकी इच्छाओं के सर्वथा अनुकूल रहना ही तुमने अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया है ?"

तब कुछ सोचकर मामी की बातें मैं नवलराय से कह गया। मामी का नाम तो न बताया, पर कहा—स्त्री-जीवन का आत्याधिक परिचय रखनेवाले किसी व्यक्ति का यह कथन है।

नवलराय ने सुनकर कहा—"इसमें, और जो मैं कहता हूँ—उसमें भेद नहीं है। दोष तुम्हारी समझ का है। स्त्री की महत्ता और गूढ़ता के विषय में मैं ठीक यही विचार रखता हूँ। साथ ही स्त्री की प्रसन्नता के लिए जो कुछ करने की बात इस व्यक्ति ने कही है, उसमें भी मैं सहमत हूं। पर तुम समझे नहीं—तुम्हें अपने मन को स्त्री के विचारों में रँग लेना होगा। तुम अपने हरेक काम में यह अनुभव करते रहो, कि मैं स्त्री के लिये ही इसे कर रहा हूँ। उसके लिए अपने पर गौरव और स्त्री पर उपकार का भाव तुम्हारे मन में आवे, तो इसका परिणाम भयानक होगा। स्त्री की अनुभव-शक्ति बड़ी तीव्र होती है। मुँह से वह कुछ कह न सकेगी, पर मन में उसके हरेक बात की असलियत की छाप लग जायगी। तुम क्या यह समझते हो—तुम्हारी स्त्री तुम्हारे मन की तह के भाव समझ नहीं सकती ?"

मैं—"कैसे कहूं ?"

वह—"इसका सीधा-सा प्रमाण है। मुझे यह बताओ, जबसे तुम ने कोशिश करके यह प्रदर्शन, मैं कहूँगा छल, शुरू किया है, तब से तुम पर उसका स्नेह कुछ बढ़ा है ?"

मैं—"मैं समझता हूँ, घटा भी नहीं है।"

वह—"न; मुझे उसके मन की बात मालूम नहीं, पर मेरा अनुमान है जरूर घटा है। बढ़ने का लक्षण नहीं दिखाई दिया; तो अवश्य ही घटा है। उसकी स्वभाव सुलभ गम्भीरता में घटने का भाव बहुत पीछे जाकर मालूम होता है। सतीश, एक शब्द में मैं यह कह सकता हूं, न तम उसे चाहते हो, न वह तुम्हें चाहती है।"

मैं एक बार सिहर उठा। खुद मेरा कई बार ऐसा अनुमान था, पर दूसरे मुँह से वह सत्य सहन न हो सकता था।

नवलराय फिर बोले—"तुमने कहा—घटा भी नहीं है। शायद इसके पीछे यह भाव भी हो—कि थोड़ा बहुत बढ़ा है। जरूर यह भाव है ! है न ? तो इसका जवाब देता हूँ। मैं समझता हूँ, यह प्रेम

नहीं, दया है। स्त्री की कोमलता बहुत शीघ्र जागती है। उसी के परिणाम स्वरूप उसके मन में तुम पर दया का यह भाव उत्पन्न हो गया है।"

मुँह से आवाज निकलनी कठिन हो गई।

नवलराय कहते रहे—"अपनी भाभी से तुम मिले हो, और उसकी उपस्थिति में मुझे देखने का मौका भी तुम्हें मिला है। मुझ पर अक्सर उसका शासन प्रकट होता है। तुमने जरूर इस पर लक्ष्य दिया होगा। मैं उसके उस शासन को स्वीकार करता हूँ। न; यह कहूँ कि मैंने अपने को वैसा ही बना लिया है। उसके शासन को स्वीकार करते हुए मुझे अपने मन पर जरा भी जोर नहीं डालना पड़ता, न कुछ गौरव का अनुभव होता है। कोई चाहे तो इसे स्त्री की गुलामी कह सकता है, पर मेरा विचार नहीं है। मुझे इसके परिणाम स्वरूप जिस स्वर्गीय श्रद्धा और आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है, उसके आगे संसार की सभी विभूतियां हेच हैं। सतीश तुम्हीं से कहता हूँ, हम दोनों परस्पर ऐसा स्नेह रखते हैं, जो पुस्तकों में भी नहीं मिलेगा, और जिसमें संसार का सारा दुःख, कलह और द्वेष उड़ गया है।"

नवलराय की बातें अमृत होकर लगीं। अब मैंने पूछा—"तो फिर करूँ क्या ?"

"थोड़े में—अपने मन का नया संस्करण करो। रत्ती भर प्रदर्शन भी स्त्री को तुम्हारे विरुद्ध कर देगा। जो कुछ तुम्हारे भीतर है, ज्यों का त्यों उसे बाहर रखना होगा। अपनी सारी इच्छायें, सारी दुर्बलताओं सारी चिन्ताएं, निश्शङ्क भाव से उस पर प्रकट कर दो। स्त्री को अपना गुरु, सलाहकार और आश्रयदाता समझो। तब तुम देखोगे, तुम किस स्वर्ग में जा पहुंचते हो, और तुम्हें किस अकथनीय आनन्द की अनुभूति होती है !"

नवलराय का उपदेश हृदयस्थ करने के लिए मैंने सिर झुका दिया।

८

●●●

जब घर पहुँचा, तो मन पर भार बाकी था। शशि काम में लगी थी, और खुले सिर कोई गाना गुनगुना रही थी। द्वार पर ठिठककर मैंने क्षण भर सुना, फिर भीतर प्रवेश किया।

साथ ही उसका गाना रुक गया। उसने सिर उठाकर मुझे देखा। चेहरा उसका प्रफुल्ल था, पर शायद मेरा भाव अस्वाभाविक देखकर मानो धूप पर बादल आ गये। उसने सिर नीचा कर लिया।

उसकी यह गम्भीरता मुझे खली। पर सम्हल गया। मैं अब तक उसके साथ अन्याय करता रहा। अब उसका प्रायश्चित करना होगा। शशि का हृदय जीतने के लिये अधिक संयम, अधिक त्याग और अधिक उदारता की आवश्यकता है। मैंने अब तक अपनी दुर्बलता का अनुभव नहीं किया था। अब नवलराय के और मामी के उपदेशों पर अमल करूँगा।

शशि ने मेरे लिए त्याग किया है। उसने स्त्रीत्व का एक ऊँचा आदर्श रक्खा है। मैं शिक्षित-समाज का एक सदस्य हूँ! मुझमें सहज-बुद्धि का अभाव नहीं है। मुझे उसकी महानता का सम्मान करना चाहिये, और उसे स्वीकार करना चाहिये।

आगे बढ़कर मैंने कहा—"शशि!"

उसने संकेत से मेरा तात्पर्य पूछा।

मैं बोला—"शशि!......................एक बात पूछता हूँ। सच बताना।"

मुँह से कुछ न कहकर उसने फिर संकेत कर दिया।

मैं—"मेरे मन में एक शङ्का पैदा हुई है। मुझे सन्देह है, तम मुझसे प्रसन्न नहीं हो; मेरे साथ रहकर तुम्हें सुख नहीं मिलता।"

जवाब देने में शशि ने अपेक्षाकृत देर की—"हो सकता है।"

ठीक यही आशा रहने पर भी, मैं यह सुनने के लिए तैयार न था। इसलिए चिहुंक-सा उठा।

उसने डरावनी हसी हँसकर कहा—"क्यों—अचरज क्या हुआ ?"

मुझ पर घड़ों पानी गिर गया। बोला—"मैं पूछता हूँ, ऐसा क्यों है ? मुझमें क्या बुराई है ? मेरा क्या अपराध है ?"

बात खत्म करने के साथ ही मैंने अनुभव किया, वाक्य-विन्यास और कहने का भाव इच्छा के बिल्कुल विपरीत होगया।

शशि मेरे भीतर की इच्छा को कैसे समझती ? जिस भाव में कहा गया, उसी में लिया गया। उसकी आँखों में चमक दिखाई पड़ी।

इस चमक ने मुझे डरा दिया। या कहूँ, मेरा मन ग्लानि और उपेक्षा-से भर उठा। दिल खोल देने के जो मनसूबे बाँधकर आया था, सब फेल हो गये। स्वर को जरा ज्यादे कड़ा करके मैंने पूछा—"जवाब क्यों नहीं देती ?"

जवाब उसने फिर भी नहीं दिया। सिर्फ चमकती आंखों से मुझे ताकती रह गई।

मन में कुछ सहमकर भी मैंने स्वर की कड़ाई में अन्तर न आने दिया—"देखो शशि, मैं पुरुष हूँ। मैं एसे संस्कारों में पला हूँ, कि अनायास ही स्त्री से थोड़े सम्मान की आशा करता हूँ। तुममें इस सम्मान का सर्वथा अभाव देखकर मुझे जो मानसिक कष्ट होता है, तुम उसकी कल्पना नहीं कर सकती। मैं तुम्हारा सम्मान जबर्दस्ती प्राप्त नहीं करना चाहता, पर जानना चाहता हूँ तुम्हें मुझमें क्या कमी नजर पड़ती है।"

शशि ने सिर झुका लिया। तब यह छोटा सा वाक्य उसके मुँह से निकला :—

"मैं तुमसे कुछ नहीं कहती।"

मैंने क्रुद्ध होकर कहा—"मुझसे कुछ नहीं कहती? फिर किससे कहोगी? और मुझसे क्यों नहीं कहती?"

न उसने जवाब दिया, और न सिर ऊपर उठाया।

इस चुप्पी ने क्रोध की मात्रा बढ़ा दी। मैंने कसकर उसका हाथ पकड़ लिया। कहा—"नहीं बताओगी?"

शशि धम से बैठ गई। सिसकियों की आवाज से मालूम हुआ—रोने लगी है।

क्रोध घटा नहीं, बढ़ा ही। आँसू देखकर भी क्रोध कैसे बढ़ा, इस का वैज्ञानिक विश्लेषण मेरे पास नहीं है। कोई पाठक इस स्थिति से गुजरे हों तो उन्हें अनुभव होगा। और चाहे मैं अपने आप कितना ही निर्दय होऊँ, मैं आशा करूँगा, अनुभवी पाठक मुझे अपनी दया और सहानुभूति देंगे।

क्रोध की उस ज्वाला में धधकते हुए मैंने क्या किया—इसकी ठीक ठीक याद मुझे नहीं। अनुमान के सहारे वर्णन करना मुझे रुचता नहीं बस, वहाँ से शुरू करूँगा, जब वह बिलख-बिलखकर रो रही थी, और मैं, क्रोध की भूख मिटी पाकर अलग खड़ा काँप रहा था।

× × × × × × ×

घर से निकलकर मैं सीधा नवलराय के पास पहुँचा। मेरी आँखें भीगी हुई थी, कण्ठ से आवाज न निकलती थी, शरीर थर्रा रहा था।

नवलराय को देखते ही मैं उनके आगे लोट गया, और रोने लगा। नवलराय घबरा से गये। उठाकर वे मुझे ड्राँइग-रूम में ले गये।

नवलराय मुँह से कुछ न बोले। शायद वह समझ गये थे, इस समय बोलना मेरे हक में बुरा है। आखिर मैंने खुद ही मुँह खोला। अधरोनी आवाज में मैंने कहा—"भाई, मैं फेल हो गया!"

नवलराय ने दुनियाँ देखी थी। बे-कहे ही जैसे उन्होंने सब कुछ

समझ लिया। और आंखों में अतुल स्नेह और ममता का भाव भरकर उन्होंने कहा—"अरे फेल तो होना ही चाहिये; तभी इन्सान पास होना सीखता है।"

इस मरहम ने अजीब असर किया। जैसे किसी ने गिरते-गिरते सम्हाल लिया। मुँह से कुछ कहना दुश्वार हो गया।

नवलराय ने पानी मँगवाया। तब मन कुछ और स्थिर हुआ। अब नवलराय ने प्रश्न शुरू किये। मैं अपराधी की तरह जवाब देने लगा।

मेरी पाशविकता की कहानी सुनकर भी नवलराय ने माथे पर बल न आने दिया। खखारकर कहने लगे—"बस यही बात ?"

मैंने कातर स्वर में कहा—"यह छोटी बात है ? भाई आप दिल्लगी कर रहे हैं !"

वे गम्भीर होकर बोले—"देखो सतीश, यह तपस्या सबसे बड़ी है इस कोलाहल-पूर्ण संसार में, दुख-सुख से ओत-प्रोत गृहस्थ-जीवन में इस माया, मोह और आकर्षण के जंजाल में पास होना बहुत बड़ी बात है। आदमी, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जङ्गल में भागता है। मेरी समझ में, मुक्ति के लिए जङ्गल में जा बैठना ऊँची बात नहीं है। गृहस्थी में मुक्ति के मार्ग की तलाश अत्यन्त कठिन काम है। जिसने उसे पा लिया, मेरी समझ में वह आदमी नहीं भगवान् है। मैं उसी को सबसे बड़ा योगी समझता हूँ, और मेरी समझ में वह सारे संसार के लिए पूजनीय है।"

मैंने टोकने की आवश्यकता न समझी। नवलराय कहने लगे:—

"पर मुक्ति के मार्ग को यहाँ पा जाना विरलों का काम है। तुम और मैं उसमें यों ही फेल हो जायँगे। इसके लिए न ताज्जुब होना चाहिए, न अफसोस। होनी चाहिये केवल कोशिश। जिसने अन्त तक कोशिश न छोड़ी, वह जरूर सफल होगा, वही तर जायगा।"

यहाँ नवलराय ठहरकर मेरी तरफ देखने लगे।

मेरे हृदय का बोझ हल्का हो गया।

तब मैंने कातर होकर कहा—"भाई, मेरा जीवन कंटकमय हो गया। अब चल नहीं सकता।"

नवलराय—"यह सम्भव है। पर मेरा खयाल है, गलत रास्ते पर तुम्ही हो। शशि के विषय में जो कुछ मैं ने सुना है, मुझे इसका वास्तविक खेद हैं, कि तुम उसे समझने में असफल रहे। पर कोशिश करने पर यह तुम्हारे लिये कठिन सिद्ध न होगा—इस पर विश्वास करो।"

कुछ मिनट बाद बात अधिक घनिष्टता से होने लगी।

"अच्छा, तुमने अपने दिल की सब बात साफ-साफ कही थी ?"

"कहाँ कही ? उसका मौका ही कहाँ मिला ? क्या कहूँ भाई, मेरी भूल थी ! मुझमें धैर्य न रहा।"

"अच्छा, अब सही। उस पर अगर कुछ क्रोध हैं तो उसे क्षमा करो। अपने पर अगर कुछ ग्लानि है तो उसे निकाल दो,—अपने साथ भी तो तुम्हें उदारता करनी ही चाहिये ? फिर जब तुम अपना दिल उसके सम्मुख खोलोगे तो मेरा विश्वास है, नतीजा बुरा न होगा। फिल हाल मेरे इसी अनुरोध की रक्षा करो।"

मैंने क्षण भर सोचकर कहा—"अगर आपके कथनानुसार मनस्थिति बनाकर जाऊँ, और उसका भाव देखकर क्रुद्ध हो जाऊँ—तो ?"

मित्र (शायद मेरे आत्म-विश्वास पर) हँसे। फिर तुरन्त ही गंभीर होकर बोले—"इस काम में जल्दी करने की जरूरत नहीं।"

"फिर ?"

"सामान्य भाव रक्खो। प्रकट करो, कि तुम सब कुछ भूल गये हो, बल्कि सचमुच सभी कुछ भूल जाने की कोशिश करो। फिर किसी दिन मौका देखकर बोलना। अगर कई दिनों में तुम समान भाव रख सके, तो मेरा विश्वास है, शशि खुद ही तुम्हारा मन देख पाने को व्याकुल होगी। स्त्री के मन का पँथ बहुत दुर्बल है; थोड़ी देर इधर-उधर घूम कर ही वह थक जाता है, और कोई आधार ढूँढने लगता है। तब, पति के पास होने पर वह कहाँ जा सकती है ? पति-पत्नी का कलह

शीघ्र शाँत हो जाने का कारण मेरी समझ में यही है।"

मुझे मामी की बातें याद आ रही थीं।

जरूर उसका भी यही अभिप्राय था। मैंने तभी इसे क्यों नहीं समझ लिया?

९

●●●

दिन बीतने लगे। कई दिन समान-भाव रख सका। शशि सब काम करती थी। प्रकट में कोई परिवर्तन दिखाई न दिया। पर अनुभव करता हूँ, वह भीतर-ही-भीतर कुछ अभाव पा रही है, जिसे व्यक्त करने लायक साहस उसमें नहीं है। मैं नवलराय की बात पर अमल कर रहा हूँ। मैंने अभी तक उस अभाव की बात नहीं पूछी है।

उस दिन की घटना कभी हम दोनों की जबान पर नहीं आई है। मैं तो उस बात को दबाने की पूरी कोशिश कर रहा था, पर देखता था शशि मानों उसे एकबारगी भूल गई है। लेकिन निश्चित कुछ नहीं था। अगर भूल गई तो खुशी की बात है। अन्यथा···सोचकर मैं भय-भीत हो उठता था!

शशि से सख्ती न करने की मैंने कस्म खाई थी। पर कस्म खाने से पहले अपनी दृढ़ता की तोल मैंने नहीं की थी। अगर तोल करता, तो जो बात पीछे समझी, वह तभी समझ लेता, यानी कस्म की असार्थकता, कस्म खाना मेरी दुर्बलता का द्योतक था। अपने कमजोर दिल को मैं कस्म का सहारा देकर सम्भाले रखना चाहता था। पाठक, यह सहारा कितना दुर्बल है, इसे आप आगे पढ़ेंगे।

आखिर वह दिन आया, जब दुर्भाग्य का सूत्रपात हुआ ओह ! वह दिन ! कैसा अभागा था वह दिन ! या, कैसा अभागा था, मैं ! उस दिन को कैलेण्डर में से निकाल दिया जाय।

घटना के बहुत बाद उसे लिपि-बद्ध किया जा रहा है, इसलिये दुर्भाग्य की उस क्षुद्र घड़ी की अब मुझे याद नहीं; जिस पर कई दिन के दबे हुए, प्रच्छन्न असन्तोष ने रिस निकलने का सूराख पा लिया। बहरहाल घटना छोटी ही थी। क्योंकि उसपर खूब गम्भीर बनकर केवल यही कहा गया था—"शशि, सहनशीलता की एक हद होती है, इसे याद रखना।"

यह बात सुबह की थी। शशि ने कोई जवाब न दिया था। दिन-भर मैं उसके जवाब की राह देखता रहा। मैं समझा—मैंने ठीक नहीं किया। अपनी बात के लिये मेरे मन में परिताप पैदा होने लगा था। शायद कुछ देर बाद मैं माफी माँग लेता। सोने के वक्त की मुझे इन्तजार थी। पर उससे कुछ पहले ही दुर्भाग्य का पहिया तेज होगया। रात के पहले पहर में आखिर उसका जवाब मुझे मिला।

मेरे पलंग से दो गज दूर, उसने अपने लिये अलग खाट बिछाई।

यह उसका जवाब था। मैंने यही समझा। और मेरा विश्वास है, मैंने ठीक समझा।

सुबह, भीतरी असन्तोष ने रिस-निकलने का जो सुराख पा लिया था, और जो अब करीब-करीब भर गया था, अब बढ़ गया। ऐसा लगा-मानों सारा रक्त दिमाग की तरफ दौड़ा जा रहा है।

उसने खाट बिछाई, मैं कुछ न बोला। कपड़े बिछा लिये, तब भी कुछ न बोला; फिर जब वह कपड़ा बिछाकर सोगई, तब भी मैं कुछ बोल न सका।

मैं भी चुपचाप लेट गया। घड़ी समय बीतने की सूचना देती रही। दुर्भाग्य का चक्र चलता रहा। रक्त की तेजी बढ़ती रही। कान लाल होगये। मैंने दो-तीन करवट बदलीं।

क्रोध कानों तक भर गया, तो मैं कड़ककर बोला—"सुनती हो !"

वह न हिली, न बोली।

मैंने यथा-साध्य संयत स्वर में कहा—"यहाँ आओ।"

मानों सुलह की अंतिम सूचना थी।

पर जवाब न कुछ मिलना था, न मिला। मैंने कपड़ा उतार फेंका, और कूदकर उसकी खाट के निकट पहुँचा। हाथ पकड़कर मैंने उसे निर्दयतापूर्वक उठा दिया।

खाट पर बैठी, वह झिपझिपी आँखों से मेरी ओर ताकने लगी।

१०

मैं—"शशि, आज मैं फ़ैसला कर लेना चाहता हूँ।"

शशि मेरी तरफ़ देखकर रह गई।

मैं कहता रहा—"मैं बहुत सहन कर चुका। अब मुझसे नहीं निभ सकता। अगर मैं तुम्हें पसन्द नहीं आता हूं, तो तुम अपने भाई के घर जा सकती हो।"

शशि रोने लगी।

क्रोध बढ़ा। आधा मिनट राह देखकर मैंने कहा—"रोने से काम नहीं चलेगा। जवाब दो। आज मैं फ़ैसला कर लेना चाहता हूँ।"

शशि ने हिचकियाँ लेकर मेरी बात का उत्तर दिया।

उसका रोना, मेरी समझ में उसकी ढीटता थी। या मेरी बात का वह कुछ मूल्य नहीं समझ रही थी। यही बात मुझे असह्य थी। भला रो क्यों रही है? उसे सीधा जवाब देना चाहिये। मेरे लिये इतनी प्रतिष्ठा भी उसके मन में नहीं है?

इस पिछले भाव से पशुता बढ़ी। पर उस पर अमल करने के पहले ही शशि की आवाज सुन पड़ी—"मुझे क्यों सताते हो!"

मैं स्तब्ध रह गया। बकरी के बच्चे के से कातर कण्ठ स्वर ने मुझे एक बार दहला दिया।

अपेक्षा-कृत संयत भाव से मैंने कहा—"मैं तुम्हें सताता हूँ! यह तुम्हारे दिल की बात है? शशि, मैं आज यही पूछना चाहता हूँ।... मगर पहले रोना बन्द करो।"

रोना बन्द हुआ। कहने लगी—"आज मेरी तबियत ठीक नहीं है। मुझ पर दया करो।"

फिर दया! मैंने नरम होकर कहा—"यही तो बात है! अगर तबियत खराब है, तो मुझसे क्यों नहीं कहा? क्या मैं तुम्हारा दुश्मन हूँ? क्या मैं तुम्हारे दुख-सुख की बात सुनने का अधिकार नहीं रखता हूँ? शशि, तुम ने मुझे अधिकार-च्युत कर दिया है—यही सन्देह मुझे रात-दिन जलाये जा रहा है।"

शशि ने जवाब न दिया। सिर झुकाये कुछ सोचती रही।

इस बार क्रोध बढ़ा नहीं। मैंने आगे कहा—"तुम मेरे मनोभावों को नहीं समझतीं। तुम पर मेरा जो प्रेम है, उसका अनुमान भी तुम नहीं कर सकतीं। मैं तुम्हारे लिये कितना त्याग और बलिदान करने को तैयार हूँ, वह मैं तुम्हें नहीं बताना चाहता। तुम्हारी इच्छा को ही मैं अपनी इच्छा बना लेना चाहता हूँ।—और तुम्हारे सुख में ही सुखी होना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। पर मैं अगर यह आशा करूँ, कि तुम मेरे भावों को स्वीकार करो, तो क्या अनुचित है?"

पाठक, मेरे कथन में किस हद तक सत्यता थी, इसका अनुमान आप कर सकते हैं। बाद में मैंने भी अनुमान किया; पर उस समय उस पर दृष्टि-पात न कर सका।

शशि ने कहा—"पर तुम्हारा इतना क्रोध बेकार है। मेरे मन में कोई दुर्भावना नहीं। तुम मुझ पर असन्तुष्ट क्यों हो?"

मैं बोला—"मैं कैसे समझूँ, तुम्हारे मन में कोई दुर्भावना नहीं। देखता हूँ, पिछले कुछ दिनों से तुम्हारा भाव एकदम बदल गया है। बुरा न मानना, मुझे सन्देह होता है, मेरे लिये तुम्हारे मन में ज्यादे स्नेह नहीं रह गया है। मैं अपनी कमियों को तुमसे जान लेना चाहता हूँ, और चाहता हूँ, अपने-आपको तुम्हारे अनुकूल बनाना। इसमें मैं कोई अपमान नहीं समझता। तुम मुझे अपने मन की बात साफ़-साफ़ बताओ।"

शशि कुछ देर आगा-पीछा करती रही। फिर बोली—"नहीं, सब तुम्हारा भ्रम········मेरे मन में कोई बात नहीं है।"

मुझे सन्तोष न हुआ। मैं बोला—"मुझे भय है, तुम मेरी सचाई पर विश्वास नहीं करतीं। अभी तुमने मुझे इस योग्य नहीं समझा, कि मैं तुम्हारे मन की बात सुनूँ। मेरी समझ में, यह मेरा और तुम्हारा दोनों का ही—दुर्भाग्य है।"

पिछले वाक्य के साथ मैं कुछ उत्तेजित हो गया।

शशि बोली नहीं।

मेरी धारणा को पुष्टि मिली।

"तुम्हारी चुप्पी मेरा संशय बढ़ाती है। हम दोनों का जीवन एक-साथ बँध गया है। अगर इस बन्धन को चिर-स्थायी रखना है, तो पारस्परिक मतभेद दूर करने होंगे। मैं अपनी तरफ से सन्धि का प्रस्ताव पेश कर रहा हूँ। मेरी समझ में, यही मेरा कर्त्तव्य है। बोलो, क्या कहती हो।"

शशि कुछ देर ठहरकर फीकी हँसी हँसी। बोली—"तुम्हारी बातें समझ में नहीं आतीं—क्या जबाब दूँ?"

मैंने अप्रतिभ होकर कहा—न समझने की तो कोई बात नहीं है। तुम समझदार हो! कम-से-कम अपने मन की अवस्था तो तुम समझती ही हो। मैं तुम्हारा पति हूँ, स्वामी हूं, क़ानून के अनुसार रक्षक हूँ। तुम्हारी दिक्कतों का ज्ञान मुझे होना ही चाहिये। बोलो, शशि,

बोलो……”

मेरा गला रुंध गया, और मैं कातर भाव से उसकी तरफ ताकने लगा।

मैंने अनुभव किया—शशि हँसना चाहती है, पर हँस नहीं सकती। कहने लगी—“मैं क्या बताऊँ—यह तो तुम्हीं को बताना होगा। तुम मेरी मनस्थिति जानने के लिये व्यग्र हो, यह सौभाग्य है। पर मैं तो अपनी मनस्थिति आप ही नहीं समझ-पा रही हूँ। देखती हूँ, मैं अकस्मात् गहन अन्धकार में पड़ गई हूँ, जिससे निकलने का कोई साधन मेरे पास नहीं है। उस अन्धकार में मेरा मन-प्राण लुप्त-प्राय हो गया है।”

अब मुझे उस पर दया आई। मैं खाट पर बैठ गया, और उसके सिर को गोद में लेकर प्यार-से बोला—“यही मैं अनुभव कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ, तुम मुझे सहारा बनाकर अपनी मनो-व्यथा से छुटकारा पाओ। मैं तुम्हारा मित्र हूँ। विश्वास रक्खो, मुझसे तुम्हारा अहित कभी न होगा। बोलो, जो ग़ुबार दिल में हो, उसे निकाल डालो।”

कहकर मैंने अपना स्नेह-चिन्ह उसके ओठों पर अङ्कित कर दिया।

शशि ने स्तब्ध-भाव से मेरा उपहार स्वीकार किया। फिर हठात् एक ठण्डी साँस की आवाज़ मैंने सुनी। मैं चौंक पड़ा। स्थिर होकर मैंने उसकी मुँदी आँखों की ओर देखा। आँसू की बूँदें बाहर निकल आईं थीं। मैंने रुँधे गले से पूछा—“यह क्या शशि, रोती क्यों हो?”

शशि ने ज़ोर-से ओठ भींच लिये, और आँखें खोल दीं। उनमें सिंदूरी रङ्ग की झलक थी। पलकें भीगकर एक हो गई थीं। नाक के आस-पास का हिस्सा रक्त-वर्ण हो उठा था। माथे पर एक नस उभरी हुई दिखाई देती थी।

मैं सहम गया। स्थिर नेत्रों से उधर ताक भी न सका। चुपचाप बैठा, उसके बोलने की प्रतीक्षा करता रहा।

दस मिनट बाद उसने भारी आवाज़ में कहा—"सो जाओ।"

मैं उठा नहीं। उसने मेरी गोद से सिर उठाकर तकिये पर रख लिया। तब कहा—"जाकर सो रहो।" और सिर से पैर तक दुलाई ओढ़ ली।

मेरी समझ में खाक न आया। दोनों हाथ कमर पर बाँधे, कुछ देर कमरे में टहलता रहा। जब थक गया, तो जाकर खाट पर पड़ रहा।

कब सोया, यह कहना कठिन है।

११

सुबह उठा, तो मन अशान्त था। शशि के अस्वाभाविक व्यवहार की छाप मन पर बाक़ी थी। भीतर किसी अभाव का अनुभव होता था। दिन चढ़ आया था। शशि उठ गई थी। बिस्तर और खाट भी यथा-स्थान पहुँच गये थे। आँख खुल जाने पर कुछ देर बिस्तर में पड़ा रहा। सोते वक्त की विचार-शृंखला फिर आरम्भ हो गई।

शशि! उसे समझना दुस्सह है! मेरी अक्ल वहाँ तक नहीं पहुँच सकती। मुझे पूर्ण आत्म-समर्पण करना होगा। इसके बिना जीवन में विष घुल जायगा। मेरा मन! यह कैसा उद्दण्ड है! विवाह के बाद ही तो इसमें यह उद्दण्डता आई है। पहले तो नहीं थी। मैं बड़ा सीधा लड़का था। सबसे दबता था। किसी से बोलता तक नहीं था। बात का जवाब सिर झुकाकर देता था। उस वक्त प्रभुत्व के भाव की उत्पत्ति नहीं हुई थी। यही बात है। सबसे दबना मैंने सीखा था, और उससे तो मैं सदा ही दबकर रहा। किससे?..........

नवीन! हाँ, नवीन! यह नाम अब कितना अपरिचित हो गया है!

कभी मैं और वह एक-ही थे ! उससे डांट खाता था, उसका प्रभुत्व सहता था, उसका आदर करता था। फिर भी हम कितने निकट थे ! वह दिन कहाँ गये !!

नवीन चला गया। आज न-जाने वह कहाँ है ! वह देवता था। उसने सबसे बड़ा त्याग करके कर्त्तव्य का पालन किया ! मैं उसके चरणों की धूल पाकर कितना गौरवान्वित होऊँ ! हाय ! नवीन, तुम कहाँ हो ? आज तुम होते, तो मुझे क्यों यह विष-पान करना पड़ता ! क्यों मुझे अपने स्वार्थ के लिये एक अछूते फूल को नष्ट करना पड़ता ! मुझे इसका क्या अधिकार था ?

नवीन !···नवीन के लिये मेरे मन में पूजा का भाव था। वह चला न जाता, तो मुझे निरन्तर परिताप में जलने का मौक़ा न मिलता। पर वह होता ही नहीं--तो ? बीच में उसके आने की जरूरत ही क्या थी ? क्या उसके बिना संसार का काम नहीं चल सकता था ? उसने पैदा होकर इस उपन्यास की सृष्टि क्यों की ? क्यों उसने शशि के दिल में स्नेह का उद्भव किया, और क्यों घटना-चक्र ने उसे रंग-मंच से हटा दिया ?

नवीन !·········मेरे दुर्भाग्य का उत्तरदायित्व नवीन पर हुआ। नहीं जानता, उसके पक्ष में कुछ दलीलें हो सकतीं हैं, या नहीं। बहरहाल मुझे ढूँढ़ने से भी कोई न मिली। उसके व्यक्तित्व की बेशक मैं पूजा करता हूँ, उसे देवता मानता हूँ, पर अपने दुख का कारण उसे कहे बिना मैं नहीं रह सकता। उसे विवाह के अध-बीच से इस तरह ग़ायब हो जाने का क्या अधिकार था ? क्यों नहीं उसने शशि को अपने मनोभावों की ख़बर दे दी, और क्यों नहीं उसने उससे अनुमति लेकर घर छोड़ने का विचार किया ? यह सरासर उसकी भूल है। मैं उसका आदर करता हूँ, इसलिये उसकी इस भूल पर मैं दृष्टि पात न करूँ, यह मेरी भलमनसी है, पर दुनिया का साधारण आदमी उसे क्षम्य नहीं ठहरा सकता। बेशक, उसने भूल की !

मुझे इतनी समझ है, कि कर्त्तव्य का पालन करने के लिये दूसरा कर्त्तव्य भुला देने की मैं प्रशंसा नहीं कर सकता। अपने निश्चय के भावी परिणाम की कल्पना मेरी समझ में नवीन को करनी चाहिये थी। वह दार्शनिक है। उसकी सहज-बुद्धि नष्ट नहीं हो गई थी। शशि के मनोभावों से वह सर्वथा अपरिचित हो, यह भी नहीं कहा जा सकता था। वह एक दिन और ठहर सकता था। आखिर उसने शशि की उपेक्षा क्यों की? वह वर्षों शशि के साथ रहा। उसने शशि को मुझसे ज्यादा पढ़ा। उसके चरित्र का ज्ञान उसे मुझसे अधिक था। क्यों उसने इस तरफ ऐसी लापर्वाही की? धरिणी............

धरिणी?.......धरिणी के कारण! धरिणी भी चली गई। इस मोह में फँसकर मैं बहन को भी भूल गया! बचपन की वे सारी स्मृतियां जाने कहाँ विलीन हो गईं? धरिणी का सौभाग्य सुन्दर लाल ने डुबाया। सुन्दरलाल का नाम मैं कैसी आसानी से लेता हूँ! उसी ने अभागिनी धरिणी को अपदार्थ बना दिया। वह नारकी जीव है! वही इस घटना-वैचित्र्य का सूत्रधार है। उसी के कारण आज चार जीवन नष्ट हो गये। अबोध बकरी की तरह धरिणी की हत्या होगई! मैं कैसा मूढ़ हूँ! नवीन ने मेरी बहन के लिये कैसा कठिन व्रत लिया! मैं उस पर दोषारोपण कर रहा हूं! मेरा आत्मा किस रौरव में घूम रही है! मेरा विवेक नष्ट हो गया है! कौन मेरी रक्षा करेगा? कौन मेरे निकट है? किसके सम्मुख मैं अपना हृदय खोल सकता हूँ?

शशि! शशि मेरे निकट होकर भी कितनी दूर है! मेरे समान अभागा कौन है? मेरी ही स्त्री रूठ कर मुझसे अलग खाट बिछाती है! जैसे, मुझ चरित्र-हीन के लिये यह बड़ा भारी दण्ड है। मैं इसे सहन करता हूँ! मेरा मन धिक्कार से भरा नहीं। मैं अपने ऊपर दया करता हूँ, अपने दोषों को क्षमा कर देता हूँ। ओह! मेरी स्त्री मेरे ओछेपन से कितनी परिचित है! मेरे मन के नर्क का दर्शन करने के लिये वह कितना नीचे चली गई है। मुझे शशि को मुँह दिखाना

चाहिये ?

मेरी बुद्धि नष्ट हो गई है। बाहर निकलकर कोई सहारा ढूँढ़ना होगा।

मामी के पास जाऊँ······मामी हैं कहाँ ?······बहुत दिन हुए, तीर्थ करने गई हैं।

तब, नवलराय ही से कुछ पा सकता हूँ।

१२

●●●

नवलराय घर पर ही मिले। भोजन पर बैठने ही जा रहे थे। भाभी रसोईघर में थीं। मुझे देखा, कि दोनों खुशी से चीत्कार कर उठे—"वाह ! वाह ! उम्र बड़ी है ! अभी हम लोग यात करते थे।"

मुझे लगा, मानो स्वर्ग में आगया हूँ। मन प्रफुल्लित हो उठा। जो चिंता का भार हृदय पर रक्खा था, वह हल्का हो गया। मैं हँस पड़ा।

"क्यों हो रही थी मेरी याद ?"

"तुम्हें उड़द की दाल बहुत भाती थी। शादी के पहले जब आते थे, तो खिलानी पड़ती थो। आज तुम न थे, उड़द की दाल थी। इसीलिये तुम्हारी याद आ गई।"

भाभी ने टोका—"अब बातों में वक्त न गँवाओ। इनके लिए एक थाली रख लो। नहीं तो दोनों जने एक थाली में बैठ जाओ।"

नवलराय संपन्न आदमी हैं! पाँचसौ वेतन लाते हैं। घर महल है। पर नौकर कुल दो हैं। रोटी भाभी खुद ही बनाती हैं। दोनों एक ही थाली में बैठ गये।

नवलराय उठकर नींबू और आम का अचार लाये। नौकर से रबड़ी मँगवाई। भाभी ने मिठाई निकालकर थाली में रखदी। रोटी चकले पर बेलती हुई व्यस्तता-से बोली—"एक मिनट सबर करो; गरम कर दूँगी।" फिर कुछ याद आजाने पर नौकर को पुकारा—"अरे! दही तो ले आ। देख उधर.........पर रक्खा है।"

नौकर दही ले आया। भाभी ने पहली रोटी थाली में फेंक दी। नवलराय ने एक झपट्टे में आधी खत्म करदी। बाकी आधी को मैंने पूरी तरह छुआ भी न था, कि उन्होंने उसे भी उठाने का उपक्रम किया।

मुझसे यह न सहन हुआ। छुटपन की शरारत जाग उठी। बची हुई रोटी में बहुत-सी दाल लथेड़कर सब-की-सब मुँह में रख गया। मुँह में इतनी गुञ्जाइश न थी, तो भी बेचारे ने मेरा अन्याय सहन कर लिया। गाल पूरे परिणाम में फूल गये। आँखों में पानी भर आया।

भाभी और नवलराय—दोनों ही ने मेरा सङ्कट देखा, और दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। मुँह के ग्रास का कुछ अंश पेट में पहुँच चुका था, इसलिये हँसने की गुंजाइश निकल आई। मैंने भी उनकी हँसी में योग दिया।

नवलराय ताली बजाकर देर तक हँसते रहे। भाभी ने मेरा पक्ष-समर्थन किया। हँसी को जबर्दस्ती छिपाकर और एक ही बार में तवे और चकले की रोटी पर, और मेरे और नवलराय के चेहरे पर ध्यान रखती हुई बोलीं—"तुम बड़े खराब हो एक भला आदमी तुम्हारे घर रोटी खाता है, तो तुम्हें थोड़ा सबर दिखाना चाहिये। तुम एक झपट्टे में उसका हिस्सा भी उड़ाना चाहते हो! छी:! मेरे प्रति उन्होंने कहा। कहा"अभी आई रोटी! इसमें इन्हें हाथ न लगाने देना। देखो जी, अगली रोटी तक तुम बैठे-बैठे ताको। तुम्हारी अधीरता का दण्ड!"

तवे की रोटी थई में, और चकले की तवे पर पहुँच गई। नवलराय हँसते ही रहे। रोटी आने पर भाभी का कहना उन्होंने न माना।

मैंने अनुभव किया—मैं स्वर्ग में आगया हूँ। आंखों में खुशी के

आँसू आने को हुए। उस दिन दूनी खूराक खाई। रोटी खाता था, और छुपके से नवलराय और भाभी के चेहरे पर देखता जाता था। जैसे कुछ पढ़ना चाहता था। आखिर इन लोगों में क्या चीज है, जो इन्हें सुखी बनाए हुए हैं? शशि भाभी से ज्यादे सुन्दरी है। उसका साधारण ज्ञान भी कम नहीं है। उसका चरित्र निर्मल है। किसी तरह का कष्ट नहीं। फिर वह क्या अभाव है, जो हम दोनों के बीच में बाधा बनकर खड़ा है।

आज यहाँ आकर मैंने स्वर्ग पाया। नवलराय, तुम धन्य हो! भाभी, तुम बड़ी सौभाग्यशालिनी हो! हाय, सतीश! मैं तुम्हें क्या कहूँ?

रोटी खाकर नवलराय के साथ बैठक में आया। हम दोनों बैठे, तो नवलराय ने टोका—"सब ठीक है?"

मैं एकदम कोई उत्तर न दे सका। नवलराय ताड़ गये। नौकर पान ले आया। पान लेकर एक मुझे दिया। तब नौकर के जाने पर बोले—"सतीश भाई, जब तुम आये थे, तो खिन्न थे।"

मैंने कहा—"आपके पास तभी आता हूँ, जब खिन्न होता हूँ। भाई, मेरे घाव का मरहम तुम्हारे पास ही मिलता है।"

नवलराय ने स्नेह-सिक्त दृष्टि से मुझे ताका। मेरी आँखों में आँसू आगये। यह स्नेह-दृष्टि मैंने यहीं देखी थी। हाय! ऐसी दृष्टि मुझे घर में क्यों नहीं मिलती!

मैं बोला—"हमारा जीवन नष्ट हो गया!"

नवलराय क्षण-भर चुप रहे। फिर बोले—"भई, तुमने अपना मन बहुत निर्बल बना लिया है।"

मैं—"बना नहीं लिया, बन गया। घटनाएँ कुछ ऐसी ही आ पड़ीं। परिस्थिति आदमी को पत्थर बना देती है। मैं ऐसी ही परिस्थितियों का शिकार हूँ।"

वे—"मैं इसके विरुद्ध हूँ। परिस्थिति कभी मनुष्य को कुछ नहीं बनाती। हमेशा मनुष्य ही परिस्थितियों को बनाता है। तुम्हें बुरा लगेगा,

पर मेरी समझ में सब दुर्घटनाओं का उत्तरदायित्व स्वयं तुम पर है।"

मैं—"स्वीकार करता हूँ। इस मामले में अपने को दोषी मानने से मुझे सन्तोष होता है। दर्द-वाली उङ्गली को दबाने से जो सुख मिलता है, वह उसी तरह का सन्तोष है। पर काश! इससे समस्या सुलझ सकती!"

वे—"समस्या सुलझना कठिन नहीं है। तुम थोड़ा धैर्य अपने अन्दर नहीं ला सकते? अगर यह भी नहीं, तो मुश्किल है। लेकिन मेरा ख्याल है, इतनी अच्छाई तुम में है। बोलो।"

मैं—"कैसे कहा जा सकता है? आप मुझे कुछ सलाह दें। फिर मैं देखूँ—मैं कर सकता हूँ, या नहीं। मैं अपने घर में वह सुख देखने के लिए मर रहा हूँ, जो यहां आकर देखता हूँ। भाई, मेरी सहायता करो। वर्ना देखना, एक दिन अकस्मात् मेरी मौत की खबर सुनोगे।"

नवलराय गम्भीर होगये। बोले—"तुम ऐसी बात मत कहो। तुम्हारे लिये ऐसी कल्पना मुझे सहन नहीं होती। मैं तुम्हारे लिये सब-कुछ करूँगा। कल मैं तुम्हारे घर आऊँगा। तब जो उचित समझूँ, और करूँ—उसमें बाधा मत देना। अब तुम जाओ। मेरी एक बात मानना। शशि के साथ समभाव का व्यवहार करना। जरा-सी कृत्रिमता उसे कष्ट देगी। इसे भूलना मत। तुम्हारी दुर्बलताओं को सब से ज्यादे वही समझती है। इस लिए तुम्हारे छल को वह तुरन्त समझ लेगी। जो-कुछ तुम हो, वैसे ही उसके सम्मुख बने रहने का प्रयत्न करो।"

नवलराय की बात मैंने करीब-करीब कण्ठस्थ कर ली। क्या उनके प्रयत्न से मैं सुखी हो सकूँगा?

पर मुझे क्या पता—दुर्भाग्य खड़ा, विद्रूप की हँसी हँस रहा था, और उसकी आँखों में सफलता का क्रूर भाव था!!

१३

क्या जानता था—अगला दिन ऐसा होगा ! नवलराय उसी दिन आजाते, तो कह नहीं सकता, जीवन किधर बह जाता। पर वह होना नहीं था। दुर्भाग्य मेरे सिर पर खेल रहा था। होनहार वैसी-ही थी। मुझे यह कहानी कहनी थी, पाठकों को उसे सुनना था।

नवलराय से बिदा होकर पार्क की तरफ चल दिया। तीन बज गये। घर जाने को उस दिन जी न चाहता था। शशि मेरी प्रतीक्षा में होगी। मुझे रोटी के वक्त पहुँचना चाहिए था। इन सब बातों का कोई खयाल मेरे मन में न था। मुझे अपनी लज्जा धोने के लिये शशि से जुदा रहने की जरूरत थी। वही मैंने किया।

तीन बजे घर पहुँचा। मामी की बैठक आज खुली हुई थी। उसने मुझे देखा। मैंने प्रणाम किया। भाव से ऐसा जान पड़ा, मुझे बुलाना चाहती है। पर देर काफ़ी हो चुकी थी। मैं ठहरा नहीं।

भीतर घुसा। शशि कसीदा काढ़ रही थी। उसका भाव देखकर मैं चौंक पड़ा। इस चौंकने में हर्ष का मिश्रण था। शशि ने नई धोती पहनी थी। मुंह में पान था। बाल उसने संवारे हुए थे। ओठों पर हँसी थी। पिछले महीने में पहली बार मैंने उसके पूर्ण सौन्दर्य का दर्शन किया।

मुझे देखकर आज उसका भाव न बदला। हँसी आज फूटी पड़ती थी—अलबत्ता हँसी रोकने की पूरी कोशिश सी कर रही थी। मैंने आत्म-सुख का अनुभव किया। मन में तरह तरह के विचार उठने लगे। यह क्या चमत्कार हो गया। क्या मेरे अच्छे दिन आ गये ? कहीं नवल-

राय ने तो कुछ नहीं किया ? हो सकता है । चार घण्टे काफी होते हैं। पर इस पर भी मेरा मन पूरी तरह जम न सका।

उसने कहा—"कहाँ चले गये थे ? मैंने बड़ी बाट देखी।" अन्तिम वाक्य कहते समय वह कुछ झिझकी थी। मैंने उस पर उस समय लक्ष्य न दिया। उस झिझक की वास्तविकता बाद में मालूम हुई। शशि को झूठ बोलने में मनोकष्ट हुआ था।

मैंने संशयात्मक भाव से इधर-उधर ताकते हुए कहा—"मुझे अफसोस है, तुम्हें कष्ट हुआ।"

मेरी रुखाई से शशि का चेहरा क्षण-भर के लिये उतर गया। पर तुरत सम्हलकर उसने कहा—"आखिर रह कहाँ गए थे ? मैं बड़ी चिन्ता में पड़ी थी। आज न नौकर आया, न महरी। किसी को खोज के लिए भी नहीं भेज सकती थी।"

मेरा संशय और संकोच दूर होने लगा। सिर उठाकर मैंने उससे आँखें चार कीं। मैं मनोवैज्ञानिक नहीं हूँ। नहीं तो, जो बात पीछे मालूम हुई, वह तभी मालूम हो जाती। उसकी आँखों में भय और कातरता का ऐसा भाव था, जिसे शुभ नहीं कहा जा सकता। पर तब मैंने उसका गलत अर्थ लगाया। उस समय विचार-धारा उसी तरह की थी मैं उसके विरुद्ध कोई कल्पना करने का साहस ही नहीं कर सकता था। मेरा मन बहुत दुर्बल होगया था।

मैंने कहा—"नवलराय के घर चला गया था। उन्होंने जिद की। खाना पड़ा। तुम तो उनकी आदत जानती ही हो। देखते ही हरे हो जाते हैं।"

शशि—"मैंने भी ऐसा ही अनुमान किया था। खैर, खालिया—यह सन्तोष की बात है।"

मैं समझा, इसने मेरी मनस्थिति की कल्पना कर ली थी। इसी-लिये उसे भय हुआ, मैं रूठ न गया होऊँ। मुझे मनाने के लिये उसके भाव में यह परिवर्त्तन हुआ है। मुझे दुख पहुँचाना उसे मंजूर नहीं है।

मेरे मनोभावों की उसने कदर की है। अपने कर्त्तव्य और विवेक को आखिर उसने समझ लिया है। मैं सुखी हुआ।

फिर झट उसने पूछा—"अब कुछ खाओगे ?"

मैंने कुछ जवाब न दिया। आगे बढ़कर उसने आलिंगन किया, और अपने स्नेह का प्रसाद उसके मुख पर अंकित कर दिया।

उसके भाव पर तब भी मैंने लक्ष्य न दिया था। ऐसे समय में मुँह पर लाली आनी स्वाभाविक है। पर शशि का चेहरा मुर्दे की तरह पीला पड़ गया। मिनट के एक भाग तक वह आकाश की तरफ ताकती रही। फिर ऐसी अस्वाभाविक रीति से उसके मुँह पर हँसी का प्रस्फुटन हुआ—जिसे मैं जल्दी न भूल सका।

मैंने उसके दोनों हाथ पकड़ कर कहा—"शशि! आज हमारे जीवन का नव-वसन्त है। आज तुममें स्वर्गीय प्रभा का दर्शन हो रहा है। मैं आज तुम्हें हृदय के सिंहासन पर बैठाकर पूजूँगा।"

मेरा गला भरने-सा लगा। मैंने ललचाई आंखों से शशि की रूप-राशि का पान किया। उसने कोई उत्तर न दिया उत्तर देती भी क्या ? हाथ उसके मेरे हाथों में ही रहे, और उसने विचित्र भाव से सिर झुका लिया।

तब मैंने उसके उस भाव को लज्जा समझा था, अब समझता हूँ, वह वेदना थी।

मोह और आसक्ति के उन्माद में मैं सब-कुछ भूल गया। मैंने उसे अधर उठा लिया, और पलंग पर बैठ गया। वह मेरी जंघाओं पर थी। मैंने आवेग में भरकर उसके अनगिनत चुम्बन ले डाले!

उसकी आँखें मुँद गईं। मैं उसके मुँह पर झुक गया। मैं क्या जानता था, आवेग और आसक्ति की यह वेगवती धारा केवल एकतर्फा है! शशि के मनोभावों की कल्पना मैं कर पाता! ओह! वह कैसी विडम्बना थी! मैं कैसी भूल में था! वह भूल अब आपको मालूम होगी। अगर उस वक्त अकस्मात् वह भूल मुझे मालूम हो जाती, तो

मेरे अन्त में पल-भर भी न लगता, उस वक्त के बाद उसका ज्ञान होने का परिणाम हुआ—वह लोमहर्षक पाप, जो मुझ अभागे ने किया, और जिसके सूत्रपात का संकेत पाठक पहले पा चुके हैं !

१४

शशि तो एक दम बदल गई। मेरे मन का संशय नष्ट होगया था। पर मन के भीतर कुछ पूछने की इच्छा बलवती होती जा रही थी। पूछने का साहस मुझे नहीं था। जिस स्वर्गीय सुख का अनुभव मैं कर रहा था, उसके समाप्त हो जाने या उसमें बाधा पड़ने की कल्पना मेरे लिए इतनी भयपूर्ण थी, कि वैसी घटना उपस्थित होने का जरा भी मौका देना नहीं चाहता था।

शशि ने कोई बात चलाई नहीं। बल्कि अब सोचता हूँ, तो पाता हूँ, वैसी कोई बात न उठने देने की उसने खास कोशिश की। वह तो सिर्फ़ हँसे जाती थी।मुझे देखते ही उसका चेहरा खिल उठता था। कई बार जब उसका सिर नीचा होता, यह वह किसी विचार में मग्न होती—उसका मुख मेघाच्छन्न-सा हो उठता था। मैं इसे देखता था, पर असलियत न समझ पाता था।

वह दिन मुझे सदा याद रहेगा। जीवन में कभी उतना सुख न मिला था। आगे तो अब मिलेगा क्या ?

अगला प्रभात आया। सूरज के रंग में कोई फर्क नहीं था। वातावरण वैसा-ही था। दुनियाँ अपने रास्ते से एक इंच भी इधर-उधर न हुई थी। दुष्टों की दुष्टता और सज्जनों की भलमनसाहत में अन्तर न पड़ा था।

मेरे जीवन में उस दिन क्या होने वाला था—इसे कौन जानता था?

नौ बजे खाना खाया। अब नवलराय को बुलाना मैं नहीं चाहता था। मैं अब सुखी था। अब उनसे वहीं जाकर बधाई लूँगा। मैंने नौकर के हाथ कहला भेजा, दोपहर को मिलने आऊँगा—यानी, आज उन्हें मेरे घर नहीं आना चाहिए।

दस बजे महरी आई। मैं कपड़े बदलकर रसोई की तरफ आया। शशि वहीं थी। मैं उससे विदा लेकर जाना चाहता था। मन उल्लास से भर रहा था। ओह! मेरा वह अज्ञान!

मैं बाहर ही था। महरी या शशि ने मुझे देखा नहीं था। अचानक महरी का स्वर मुझे सुनाई दिया—"बहूजी, कल तो चीखते-चीखते थक गई, किवाड़ न खुले। क्या सो गई थीं?"

शशि के मुँह से अचरज का एक सीत्कार निकला। उसने महरी को निकट बुलाया। स्वर उसका भयभीत और धीमा था। मेरा मन शंका से भर उठा। महरी से उसने क्या कहा—यह मैं सुन न सका।

मिनट—भर मैं जहाँ-का तहाँ, ज्यों-का-त्यों खड़ा रह गया। क्या करूँ—यह स्थिर न कर सका। फिर चुपचाप बैठक में लौट गया। दो मिनट स्तब्ध रहकर मैं संयत हुआ। फिर शशि को आवाज दी। शशि आई।

आवाज किसी और इरादे से दी थी। पर तुरत ही इरादा बदल गया। उसके मुँह की तरफ देखे बिना ही कहा—"एक गिलास पानी चाहिए महरी के हाथ भेज दो।"

पानी का गिलास लेकर शशि खुद ही आई। इससे सन्देह और बढ़ा। गिलास लेकर मैंने रख लिया, और कहा—"पान भी भेजना।"

मैं समझता हूँ—पानी लेकर खुद आना इस बात का द्योतक नहीं था, कि उसे महरी को भेजना अभीष्ट न हो। क्योंकि पान लेकर इस बार महरी आई। पानी लेकर आना उसी प्रवञ्चना का अंश था, जिसमें मैं कल से पड़ा हुआ था।

पान मैंने खाया नहीं, चौकी पर रख दिया। महरी जाने लगी। मैंने उसे रोका।

महरी युवती थी, और उसका मर्द उसे जरूर सुन्दरी समझता होगा। मेरा इस तरह रोकना अस्वाभाविक था। वह घूमकर खड़ी हो गई, और ज़रा देर मेरा मुँह ताककर मुस्करा पड़ी।

मन की ग्लानि को भीतर रखकर मैंने उसके तेलवासित मुख पर स्थिर नेत्रों से ताका। उसके गालों पर ललाई दौड़ गई, नाक पर पसीने की बूँद दिखाई दी। बड़ी-बड़ी आँखों में न-जाने-कैसा भाव भरने का उसने प्रयत्न किया। पर मैं इसके लिये तैयार नहीं था। मैंने उसे मौका न दिया। कहा—"यहाँ आओ।"

उसने मुँह बनाया, और पेंदीदार बर्तन की तरह दो बार इधर-से-उधर घूम गई। मानों मेरे धीरज को तोलना चाहती थी। मैंने जरा कड़े स्वर में कहा—"यहाँ आओ।"

वह जैसे विवश होकर आगे बढ़ी। मैंने रहस्य-हीन, और रूखी आँखें तरेरकर कहा—"देखो, एक बात पूछता हूँ, सच बताना।"

अब तो उसका चेहरा फ़क् हो गया! न-जाने भली-मानस की किन भारी आशाओं पर तुषार-पात हुआ! बेचारी!

मैंने कहा—"तुम कल आईं थीं?"

वह—"हाँ……जी नहीं, कल कुछ काम था।"

मैं—"देखो, सच बोलो, नहीं बुरा होगा। सच बोलो, सच!"

उसकी सिट्टी गुम हो गई। बोली—"बाबू!"

मैं—"सच बोलो, सच।"

वह—"बाबू, सच ही तो कहा है। हमारी गुस्ताखी माफ करो।"

मैं—"सच बोलो, कुछ नहीं कहूँगा, इनाम दूँगा।"

पता नहीं, दोनों में से किस बात का असर हुआ। वह डरती हुई बोली—"बहुजी ने मना किया है।"

"क्या!"

वह—"कल जब आई थी, तो किवाड़ भीतर से बन्द थे। मैं आवाजें देकर लौट गई।"

मैं—"बहुजी ने क्या कहा है?"

वह—"मैंने उनसे पूछा था—कल क्या बात हुई? इस पर उन्होंने मुझसे कहा—बाबूजी से मत कहना। पूछें तो कहना—काम था।"

इतने में शशि ने महरी को आवाज दी। मैंने उसे जाने का संकेत किया। मन पर पहाड़-सा आ गिरा। दस मिनट पहले की वह उत्फुल्लता कौन छीन ले गया!!

मन के एक कोने से नाशकारी सन्देह की लहर उठी, और क्रमशः उसने मुझ पर अधिकार कर लिया। सारा जगत् संशय और छल से व्याप्त जान पड़ने लगा। यथार्थता का ज्ञान अभी तक न हुआ था। इसीलिये मन:प्राण एक बारगी व्याकुल हो उठा। किसी ने मेरे कान में कहा— नाश का समय निकट है। क्षण-भर के लिये सद्भावना का दर्शन हुआ। शीघ्रता घातक होगी। मन में भरे हुए अन्धकार के बीच यह भावना बिजली की तरह चमक उठी। उसी के प्रकाश में मैंने अपनी दुर्बलता पर दृष्टि-पात किया।

मेरा विवेक मुझसे कहने लगा—यहाँ बैठे, तो नाश हो जायगा।

मैंने विवेक का कहना माना। उठकर चल दिया। नवलराय ही इस समय मेरे लक्ष्य थे।

यह मुझे कहाँ सूझ सकता था, कि उस दिन दफ्तर की छुट्टी नहीं थी, और नवलराय चार बजे से पहले घर न मिल सकते थे? एक ही साँस में मैं घर से बाहर हो गया।

१५

नवलराय के घर की तरफ बेतहाशा चला। पर थोड़ी दूर गया था, कि किसी ने आवाज दी। देखा, तो मामी मुझे बुला रही थी।

टाट बिछाकर मामी ने मुझे बिठाया। नहीं कह सकता, मेरे परिवर्त्तित मुख पर आज उसकी नजर क्यों न पड़ी। बैठते ही हँसकर कहने लगी—"इस यात्रा में मैंने तुम्हें बहुत याद किया।"

मैं—"कहाँ-कहाँ गईं ?"

मामी—"मथुरा, काशी, अयोध्या, पुरी। जब बहुत छोटी थी, तब एक बार पुरी गई थी। बहुत ही धुँधली-सी याद थी। अब की बार बड़े आनन्द-से दर्शन हुए। छः दिन पुरी में रही।"

मैं—"बड़ी अच्छी बात है।"

मामी—"सङ्गी-साथियों ने आग्रह किया। कई दिन कलकत्ते में ठहरे। शहर के भीड़-भड़क्के में मुझे कुछ आनन्द नहीं मिलता। पर इसमें शक नहीं, कलकत्ता शहर है बहुत बड़ा। चार दिन बराबर घूमते रहे, तो भी पूरा न हुआ। तुम तो कलकत्ता हो आये हो ?"

मैं—"हाँ।"

मामी—"तुम्हें चाहे पसन्द आया हो, पर वहाँ का घमासान देख कर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये। मुझे तो काशी में गंगाजी के सूने तट पर जितना सुख मिला, उतना और कहीं नहीं।"

मैं चुप रहा।

मामी—"हमारे साथ एक बुढ़िया थी। उसके साथ उसका पोता था। तुम्हारी उम्रों, और बिल्कुल तुम्हारे ही जैसा। मैं जब उसको

देखती थी, तभी तुम्हारी याद आ जाती थी।"

मैं इस बार भी न बोला।

अब उसने मेरे भाव-विपर्यय पर लक्ष्य दिया। कहने लगी—"कहो, अब तो सब ठीक है?"

मैंने लड़खड़ाते स्वर में कहा—"सब ठीक है।"

मामी—"बनती तो है?"

मैं—"हाँ, खूब बनती है। ऐसी, कि दुनिया में किसी की न बने!"

मेरे स्वर में कड़वाहट थी।

मामी—"तुम्हारी बात मैं समझी नहीं।"

मैं—"समझाने की मेरी इच्छा भी नहीं है। अपनी वेदना से मैं तुम्हारे निष्कलङ्क हृदय को दुख नहीं पहुँचाना चाहता।"

मामी—"(ठण्डी साँस लेकर) मेरे हृदय को किसी की वेदना सुन कर दुख नहीं होता।"

मैं—"मामी, मेरा जीवन भार बन गया है।"

मामी ने सारी बात सुनकर छोड़ी। जब महरी की बात आई, तो सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा—"हाँ···!"

मैंने पूछा—"हाँ·······क्या?"

मामी ने टालने की कोशिश की। जब मैंने आग्रह किया, तो कहने लगी—"हाँ कल महरी आवाजें तो दे रही थी। मैंने भी सुना था। पर मैं उस वक्त काम में लगी थी। इसीलिये ध्यान न दिया।"

मैं क्षण-भर के लिये सोच में पड़ गया।

मामी ने कुछ कहने के लिये मुँह खोला, पर बिना कुछ कहे ही बन्द कर लिया।

मैंने कहा—"क्या कहती थीं,—कहो, कहो।"

मामी ने शायद दूसरी बात सोचते हुए कहा—"कुछ नहीं।"

मैंने स्वर में सारा आग्रह भर कर कहा—"मुँह की बात मन में न रक्खो। कहो, कहो। मेरी बुद्धि इस समय नष्ट हो रही है।"

मामी—"इसीलिये नहीं कहती हूँ। प्रतिज्ञा करो, मेरी बात सुनकर अधीर न हो जाओगे।"

मैंने प्रतिज्ञा कर ली।

मामी को इससे सन्तोष न हुआ। कहने लगी—"बात कुछ नहीं है, पर तुम्हारी नष्ट हुई बुद्धि पर उलटा असर डाल सकती है। कोई धारणा स्थिर करने के पहले मुझसे सम्मति ले लेनी होगी। क्योंकि इस मामले में गलत-फहमी होना सम्भव है।"

मैंने कहा—"जो कहोगी, करूँगा, कुछ कहो तो सही।"

मामी धीरे-से बोली—"कल तुम्हारे कोई मित्र आये थे?"

मैं—"(चमककर) कहाँ?"

मामी—"यहीं, तुम्हारे घर?"

मैं—"कब?"

मामी—"कल सुबह।"

मैं—"मेरे मित्र? कल सुबह? मुझे पता नहीं?"

मामी चुप हो गईं।

मेरे संशय की सीमा न रही। बोला—"क्या हुआ, कोई कल आया था क्या?"

मामी ने कोमल स्वर से कहा—"कल एक आदमी को मैंने तुम्हारे घर से निकलते देखा था। शशि ने तुमसे नहीं कहा?"

मैं—"कौन था? कैसी सूरत थी?"

मामी—"मालूम होता है, कहना भूल गई। अब जाकर उससे पूछना।"

मैं—"कैसी शक्ल-सूरत थी उसकी?"

मामी—"अब यह मुझे कैसे याद रहता? जाकर शान्तिपूर्वक शशि से पूछना। वही बता देगी। मैं क्या जानूँ?"

मैं—"आखिर तुमने देखा तो होगा। कैसे कपड़े पहने था? कैसा कद था? क्या खास बात थी?"

मामी—"बस, कोई तुम्हारे ही जितना था।"

मैं—"लम्बा क़द?"

मामी—"हाँ।"

मैं—"गोरा रङ्ग?"

मामी—"हाँ।"

मैं—"आँखें बड़ी-बड़ी?"

मामी—"चश्मा लगाये हुए था। कोट-पतलून पहने हुए था। मैं तो समझी, तुम्हारा कोई दोस्त है। तुम शशि से पूछना। वह तुम्हें बताना भूल गई होगी। शान्ति से पूछोगे, तो सब बता देगी।"

पर शान्ति कोसों दूर जा चुकी थी। मामी की बात जैसे बहरे कानों पर सुनी। हृदय की धड़कन बढ़ गई। बैठना मेरे लिये कठिन हो गया।

उठने का उपक्रम किया, तो मामी ने रोक लिया। बोली—"जाते कहाँ हो ठहरो!"

मैं बोला—"ठहर नहीं सकूँगा।"

वह—"वचन जो दिया था? मेरी बात सुनकर जाना।"

मैं बैठ गया। मामी क्षण-भर के लिये मेरी ओर ताकती रही, फिर बोली—"तुम उत्तेजित हो गये हो। जान पड़ता है, कुछ और घटनाएँ हुई हैं! सलाह मानो, तो इस अवस्था में घर मत जाओ। कुछ करने के पहले विचार लेना बुद्धिमानी होगी।"

मेरा गला भर रहा था। मैं कुछ न बोल सका।

मामी के नेत्रों में विषाद था। कहने लगी—"एक जल्द-बाज ने मेरा घर बर्बाद कर दिया था। मेरे तजुरबे से तुम्हें लाभ उठाना चाहिये।"

मैंने तब भी कुछ जबाव न दिया।

मामी बोली—"अगर ठीक समझो, तो कुछ देर यहीं बैठो......"

शायद मैं बैठा रहता, पर मामी की बात सुनकर मुझे वहाँ बैठे रहने में बोझ मालूम होने लगा। मैं तुरत खड़ा हो गया।

मामी ने रोका नहीं। सिर्फ कहा—"आशा है, अब तुम घर नहीं जा रहे हो।"

इशारे-से 'नहीं' कहकर मैं चल दिया।

घर की तरफ मैं नहीं गया। मामी के आदेश में मैंने तथ्य का अनुभव किया। नहीं कह सकता, नवलराय के घर जा पहुँचता, या किसी बागीचे में, कहाँ·········पर नहीं, दुर्भाग्य को अपना काम खत्म करने की जल्दी थी!

रास्ते में डाकिया मिल गया।

मुझे देखते ही वह ठहर गया, और चिट्ठियों के मुट्ठे में से निकाल कर एक चिट्ठी मुझे दी।

लिफाफा था। खोलकर उसी समय पढ़ने का कष्ट उठाना मैं नहीं चाहता था। इसलिये उसे ज्यों-का-त्यों जेब में रखने का उपक्रम किया। सहसा पते पर मेरी नजर पड़ गई!

अक्षर नवीन के थे, और शशि का नाम लिखा था।

पाठक मेरे मन की कल्पना करने का कष्ट न बठायें। वे फेल होंगे। उस समय का ठीक-ठीक वर्णन करने की शक्ति मुझ में नहीं है। बस, इतना कह सकता हूं, कि लिफाफा खोल डालने से पहले मेरे मन में कोई विवेक-मात्र या सङ्कल्प-विकल्प नहीं आया। नहीं जानता, मैं किस अनिवर्चनीय शक्ति के वशीभूत हो गया! कैसा भयानक वह क्षण था!

पत्र पढ़ने के लिये पाठक उत्सुक होंगे:—

शशि,

लौटा हूँ, तभी से मन को शान्ति नहीं। मैं देखता हूँ, तुम्हें दुखी देखकर मैं सुखी नहीं रह सकता। अब मैंने अनुभव किया, मैंने भूल की। शायद धरिणी भी ऐसा ही समझती है। इस भूल के प्रतिकार-रूप मुझे तुम्हारा उद्धार करना होगा। सतीश से तुम्हारा आत्मिक सम्बन्ध कभी नहीं हुआ। मैं, तुम और सतीश तीनों ही इस बात को समझ सकते हैं! मेरे निकट तुम कुछ दिन पहले की शशि हो, और उसी प्रकार

ग्राह्य हो। पर सतीश को तुम पर कुछ हक है, मैंने यह महसूस किया है। हमें उससे पूछना होगा। —'पूछना' न कह कर 'सूचित करना' कहना चाहिये। इसी में सब का कल्याण है।

नवीन।

१६

घर की तरफ मैं फिर भी न गया। एकान्त में बैठकर सोचना चाहता था। अनर्थ करना मुझे स्वीकार नहीं था। आनी होनहार के विरुद्ध अपने को बहला रहा था।

नदी यहाँ से दूर थी। मैं उधर ही चल दिया। दोपहर हो चुकी था। घाट सुनसान पड़े थे। नदी का निर्मल जल मन्थर गति से बह रहा था। किनारे पर पड़े हुए एक चिकने पत्थर पर मैं बैठ गया।

नवीन की चिट्ठी मैंने फिर निकाली। कितने बार पढ़ी। यह ठीक नहीं कह सकता। प्रत्येक अक्षर अलग-अलग दिमाग में घूम गया। नवीन आया था। शशि ने मुझसे कहा नहीं। तभी उसका भाव परिवर्तित था। उसने धोखा देने की कोशिश की।

जहाँ धोखा है, वहाँ मेरे मन में भयानक घृणा और तिरस्कार का भाव है। जहाँ मैं देखूँ, मेरे साथ छल किया गया, वहाँ फिर संयत रहना मेरे लिये साध्य नहीं। शशि को मेरी प्रकृति से वाकिफ होना चाहिये था। फिर भी उसने मुझसे छल किया!

नवीन! नवीन शशि को दुखी देखकर दुखी होता है। तो शशि दुखी है? शशि ने ऐसी कोई बात कही? और ऐसा भयानक प्रस्ताव ......नवीन का है, या शशि का! क्या समाज का बन्धन इनके लिए कोई

हैसियत नहीं रखता है ? शशि मुझे छोड़ देना चाहती है ? मेरी मौजूदगी में दोनों साथ रहेंगे ? मेरे साथ शशि का ब्याह हुआ है। क्या मुझे केवल 'सूचित करना' ही काफी समझा जायगा ? ऐसी कल्पना भी मुझे नहीं करनी चाहिये।

हाँ, धरिणी ! धरिणी उसके साथ ही रहती है। धरिणी के प्रति क्या उसके कर्त्तव्य की इति-श्री हो गई ? यही उसका आदर्शवाद है ? इसी पर मैं श्रद्धा करता था ? इसी के लिए मेरे मन में पूजा का भाव था। छीः मैं कैसी भूल में था !

शशि का मेरे साथ आत्मिक सम्बन्ध न था। क्या शशि ने ऐसी बात कही थी ? यह उसकी कैसी निर्दयता है। मैंने उसके लिये क्या नहीं किया ? मुझसे उसे क्या सुख नहीं मिला ? पर उसने मुझे धोखा दिया। मैंने कितने बार पूछा पर उसने सच बात मुझे न बताई। क्या उसने कभी मेरे हृदय को अपने निकट न पाया ? मैंने हमेशा उसे प्यार करने को कोशिश की, प्यार किया भी, पर कभी उससे प्यार न पाया। यह उसका कितना अन्याय है !

वह स्वतन्त्र थी। उसने मुझसे ब्याह किया ही क्यों ? वह शिक्षित-परिवार की लड़की थी। उसकी इच्छा विरुद्ध मेरे साथ उसका विवाह न हो सकता था।....और मैंने तो उसे मौका दिया। मैंने उसे पत्र लिखा था। उसे उत्तर देना चाहिये था। ब्याह तुरन्त रुक सकता था।

नवीन को शायद उसने यह नहीं बताया। फिर मुझे केवल 'सूचित करना' ही नवीन काफी न समझता। वह शशि का सारा अपराध मानता। तब उसे इस तरह की चिट्ठी लिखने तक का हक नहीं रहता।

पर नवीन का आदर्शवाद फेल हो चुका है। धरिणी के प्रति अपना कर्त्तव्य वह भूल गया है। धरिणी की समझदारी का ज्ञान मुझे है। उसने नवीन को दूसरे मार्ग पर डालने में ही उसका कल्याण पाया होगा। नवीन जरूर बहक गया है। शशि का ख्याल उसे पागल बना ले चला है। कैसे समझूँ—उसका विवेक मरा नहीं ? मुझे बर्बाद करने का इरादा

कैसी आसानी से उसने कर लिया ?

वह कहता है—शशि का उद्धार करना होगा। मानों वह दुर्लंघनीय कारागार में पड़ी है। कैसा ढोंग है ! हाय सतीश, तुमने दुनिया को कितना थोड़ा समझा है ! नवीन को क्या समझा था, क्या पाया ! कैसी गन्दी भावना है ! इसी का नाम भावुकता है ? इसी को सुधार समझूँ ? इसी के लिये कोई मन में प्रशंसा के भाव लाये ?

नवीन मेरे घर आया। शशि से उसने भेंट की। कई घण्टे वह घर पर रहा। यानी वह मुझसे छिपना नहीं चाहता था। जब छिपने का मौका मिला, तो शशि ने उसे छिपाना चाहा; या उसने मुझसे कहने में अहित पाया; या फिर वह बात कहने-योग्य निकटता उसने मुझमें न देखी। पर नहीं, दोनों की बात स्थिर हो गई थी। शशि मुझे त्याग देने का इरादा कर चुकी थी।

कल इतना सद्भाव था, पर शशि अलग खाट पर सोई थी। मैंने पूछा था, तो जवाब दिया कि दाई ने मना किया है। अब मैं उसका मतलब समझा हूँ। क्या शशि कल ही मुझे त्याग चुकी ? क्या मैं अब उसका पति नहीं हूँ ?....

संसार मुझे घूमता-सा जान पड़ा। कोई ऐसी स्थिति में पड़ा हो, तो मेरी अवस्था समझे। मैं खो गया हूँ, मुझे सब कुछ सूना दिखाई पड़ता है।

नवलराय के पास जाना चाहिये। उनकी बातें मेरी शङ्काएँ दूर करती हैं। पर इस बार शङ्का नहीं है, सच्ची बात है। क्या नवलराय कोई मार्ग बता सकेंगे ? पर यह घटना उनसे नहीं कहूँगा ! एक दिन तो सभी जानेंगे। ओह ! नहीं; वह समय न आने दूँगा ! उससे पहले मैं मर जाऊँ ! मेरी कर्त्तव्य बुद्धि नष्ट हो गई है। कौन मेरा धर्म मुझे सुझाये ?

१७

नवलराय के घर पहुँचा, तो शाम हो आई थी। दफ्तर से वे लौट चुके थे। दोनों जने बरामदे में बैठे, और किसी बात पर ठहाका मारकर हँस रहे थे। इस हँसी में योग देने को मेरा मन हुआ। कैसा इनका जीवन है!

मुझे देखकर ठहाका दोनों का रुक गया। पर मुँह पर हँसी का अवशेष अभी था। चेहरे की ललाई अभी दूर न हुई थी। आँखों में खुशी का पानी झलक रहा था।

मन-ही-मन मैं तलमला उठा। मेरा भाग्य! मैं ऐसे आनन्द से कितना दूर हूँ! नवलराय का सौभाग्य! दिन भर साहब की भृकुटि का असह्य भार सहकर, खून-पसीना एक करके शाम को घर आता है, कि सुख और उल्लास की धारा बहती हुई पाता है। ओह! कितना सुख है!

भाभी ने तपाक से कहा—"आइये!" और कुर्सी छोड़कर खड़ी हो गईं। नवलराय केवल मुस्कराते रहे।

मेरे सूखे होठ भी हँसी का प्रदर्शन करना चाहते थे। शिष्टाचार के नाते मैंने भाभी को बैठे रहने के लिये कहा। वह बोलीं—"हजूर तशरीफ रक्खें, बन्दी आपके पेट की फिक्र में जाती है।"

नवलराय ने हँसकर कह—"सुना कुछ? कैसी जली कटी सुना दी? मैं ही हूँ—जो सुनता हूँ।···"

"और कोई होता, तो छोड़कर चल देता। वाहरे, बहादुरी!" कहती हुई भाभी सिर से पैर तक एक झोंका खाकर फुर्ती से चली गईं।

मुख पर उनके स्वर्गीय हास्य खेल रहा था।

कैसा सुख था!

इस मधुर कल्पना को मन के आगे बिछाये मैं कई मिनट स्तब्ध बैठा रहा। नवलराय स्थिर होकर मुझे देखते रहे। फिर मुस्कराये।

मुस्कराये, कि मेरी नींद टूटी। झेंपकर मैंने कहा—"कहिये।"

नवलराय ने मुस्कराहट को ग़ायब न करने की कोशिश करते हुए कहा—"खैरियत?"

मैंने समयानुकूल कोई जवाब दे दिया।

नवलराय—"जब आते हो, अकेले चले आते हो। कभी शशि को क्यों नहीं साथ ले-आया करते? तुम लोगों में यही तो खोट हैं। क्या स्त्रियां मनोरंजन की इच्छुक नहीं होतीं।"

मेरी आंखों में आँसू उमड़-आने को हुए। जवाब मैं कुछ न दे सका।

नवलराय गम्भीर हो गये। कहने लगे—"पुरुष अगर स्त्री की इच्छाओं को समझ ले, और अपनी इच्छाओं को उसकी इच्छाओं में रमा दे, तो मैं समझता हूँ, आत्मिक सुख मिल सकता है; क्योंकि यही स्वाभाविक है। इस प्रकार एक दूसरे में रम जाने की कोशिश करने पर मन आप-ही ऐसे स्थायी समझौते पर पहुँच जाते हैं, जहाँ न क्लेश है, न कलह है, न भ्रम है, न आशंका है।"

मैं—"लेकिन गम्भीर और खुले सत्य को लाँघकर स्त्री में रम-जाना इस दुनिया के पुरुष के लिये असम्भव है।"

नवलराय की आंख जरा झपी। बोले—"तुम्हारी बात में सत्यता का बहुत अंश है। जीवन में ऐसे मौके आते ही हैं। मेरा तर्क तो यह है कि उन्हें आने ही क्यों दिया जाय? पर यह शुरू की बात है। कोई पूछे, अगर आजाय—तो? इस के जवाब में मैं तो यही कहूंगा—पुरुष अपनी दुर्बलताओं का मनन करे।"

मैं—"यह अनहोनी-सी बात है।"

नवलराय—"मैं ऐसा नहीं समझता। आखिर पुरुष का दृष्टि-कोण कब तक ऐसा रहेगा ? अपने पक्ष में उपस्थित करने के लिये पुरुष के पास कौन-सा तर्क है। तुम्हीं बताओ। पुरुष जिस कमजोरी का शिकार हो चुका है, या हो सकता है, स्त्री के वैसा हो जाने पर, या हो सकने पर उसका क्रोध क्यों विस्फोट कर-उठता है ? तुम कहोगे—संस्कार। पर संस्कार का बनाने-वाला कौन है ? खुद मैं और तुम। मैं यह पूछता हूँ, अगर पुरुष स्त्री के आधीन बन जाय, दुनिया यह समझ ले, स्त्री उस पर हावी है, तो अनर्थ क्या हो जायगा ? क्या स्त्री के मन में ठीक ऐसे ही भाव की आशा और कल्पना पुरुष वर्ग नहीं करता ? क्यों ऐसा करता है ? इसका वैज्ञानिक विश्लेषण मेरी समझ में नहीं आता।"

मैंने ग्लानि के भाव से कहा—"तुम्हारी समझ में पुरुष स्त्री के आदर्श का पालन करे, उससे दबकर रहे, उसे सम्पूर्ण स्वाधीनता दे दे ?"

नवलराय—"क्या पुरुष स्त्री से ठीक ऐसी ही आशा नहीं करता ?"

मैं—"करनी ही चाहिये।"

नवल०—"क्यों भला ?"

मैं—"पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ है। स्त्री के पेट की चिन्ता वही करता है। घर की बदनामी और नेकनामी के लिये वह उत्तरदायी होता है। मतलब यह है कि पुरुष को स्त्री से हजार-गुना ज्यादे कार्य करना पड़ता है।"

नवल०—"अगर कार्य की आधिकता ही आधिपत्य की दलील है, तो मेरा नौकर मेरा मालिक बनने का ज्यादे हक रखता है। मैं सिर्फ कुर्सी पर बैठ कर हुक्म चलाना जानता हूँ, नौकर दिन-भर इधर-से-उधर दौड़ता है, घर के लिये सामान खरीद कर लाता है, बर्तन साफ करता है। और भी बहुत-से कामों में दखल देने की उसकी इच्छा रहती है।"

मैंने चिढ़े हुए भाव से कहा—"इससे क्या ?—नौकर वेतन जो

पाता है ।"

नवलराय—"तो तुम्हारी समझ में पुरुष सब काम मुफ्त में करता है ? यह भ्रम है । सच कहना, क्या स्त्री से पुरुष का कुछ स्वार्थ नहीं होता ? (यहाँ मूछों में मुस्कराहट की रेख दीख पड़ी) अगर नहीं है, तो सारी दुनिया के पुरुष भयानक भूल कर रहे हैं । क्यों ? तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

मैं सहसा उत्तर न दे सका ।

नवलराय—"अगर तुम्हें कुछ महीने पेट में एक सेर बोझ रखना पड़े, तो क्या होगा, कह सकते हो ? अपार कष्ट ! स्त्री ने पुरुष से यह अपार कष्ट पाकर कभी शिकायत की है ? इसके बदले में कभी उसने यह चाहा है, कि पुरुष उसके अनुशासन में चले ? गलत न समझना, मेरा मतलब है, सिर्फ इसी बात के कारण ! तो पुरुष अभ्यस्त होगया है, इन बातों को अनावश्यक समझने का । स्त्री-हृदय के विषय में कुछ बातें तुम जान चुके हो । अशिक्षा के कारण स्त्रियों की उदारता, दीनता और कायरता बन गई है । इसीलिये तो हम उनके कष्ट और उनके त्याग की महिमा का अनुभव नहीं कर पाते ।"

"तो, यों समझो किगृहस्थी तपस्या का स्थान है । स्त्री और पुरुष में बराबर का बँटवारा किया गया है । दोनों का हिस्सा जरा भी कम-ज्यादा नहीं । प्रचीन हिन्दू-संस्कृति की सामाजिक व्यवस्था सर्वथा शुद्ध, सत्य, और युक्ति-सङ्गत थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र में पड़कर इस व्यवस्था का पतन आरम्भ हुआ । आज हमारे जो संस्कार हैं कुछ-सौ वर्ष पहले के इतिहास में इनका अभाव पाओगे । पुरुष में स्त्री पर अपने जिस, और जैसे अधिकार की कल्पना कर रखी है, मेरी बुद्धि किसी प्रकार भी उसे तर्क-युक्त और न्याय-युक्त स्वीकार नहीं करती ।"

मैं—"आपकी बात सैद्धान्तिक है । यह जरूरी नहीं, कि सभी समस्याओं में उसका उपयोग किया जा सके ।"

नवलराय—"मेरी बात मूल सत्य है । उसे समझ लेने पर समस्या

उत्पन्न ही नहीं हो सकती।"

मैं—"लेकिन अभी आपने कहा था, यह शुरू की बात है। जो.........."

नवलराय—"अवस्था कैसी ही हो, स्थिति कितनी ही बिगड़ चुकी हो, मैं दावे से कहता हूँ, अगर पूरा जोर लगाकर पुरुष अपने को एकदम बदल डाले, तो नर्क के स्थान पर उसे तुरन्त ही नन्दन-कानन दिखाई देगा।"

मैं—"स्त्री में चरित्र-दोष देखने पर पुरुष का क्या कर्तव्य है?"

नवलराय सजल—से हो गये। मैं भी पछताया। वे बोले—"मेरा विचार पूछते हो?"

मैं—"हाँ।"

नवल०—"दुनिया ने जिस चीज को चरित्र समझा है मैं उसी को चरित्र नहीं समझता। चरित्र का एक अङ्ग उसे कहा जा सकता है, पर मेरी समझ में, वह बहुत क्षुद्र वस्तु है। मुझे दिखता है, मेरी बात तुम्हें रुची नहीं।"

मैंने उद्दण्डता-से कह दिया—"नहीं!"

"मैंने बुरा नहीं माना है। पर मेरा ख्याल है, यह तुम्हारी विचार हीनता है। मैं पूछता हूँ, तुम इतने उदार क्यों नहीं बन सकते? स्त्री के दिल पर अधिकार करो, वह इधर-उधर चले जाने की कल्पना भी न करे—यह पहली बात है। इसमें अगर तुम अक्षम रहे, तो मेरी राय है—दोनों दिलों को अपनी-अपनी राह चलने दो। जरूरत यह है, कि तुम दिल के किसी खास तरफ चले जाने को ही सब कुछ न समझ बैठो। पुरुष अगर इतना विचार शील बन जाय, तो तपोभूमि का सारा उपद्रव लुप्त हो जाय। सतीश, मेरा अनुरोध है, तुम मेरी राय पर विचार करो, मैं तुम्हारा हितैषी हूँ।"

नवलराय ने हृदय की सारी ममता, समवेदना और अनुभूति भरकर अन्तिम वाक्य कहा। मैंने समझा, मेरी मनस्थिति को उन्होंने पढ़ लिया।

१८

नवलराय के घर से चला, तो पिछली सारी घटनाएँ आंख के सामने आ-आकर सजने लगीं। स्कूल के वे दिन! कालेज छोड़ने के बाद की स्वच्छन्द अवस्था। वे महत्वाकांक्षाऐं! वे ऊँचे आदर्श! वे आज न-जाने स्मृति के किस कोने से निकल-निकलकर आगे आने लगे।

नवलराय ने जो कहा है—विचारणीय है। पर पुरुष के लिये—मुझ सरीखे के लिये—वैसी मनोवृत्ति बना सकना सम्भव नहीं। स्त्री के पाप पर दृष्टि-विपर्यय नहीं किया जा सकता। अलबत्ता पुरुष बहुत नीच हो, उसका समय पाप में कटता हो अथवा स्त्री के प्रति वह अपनी कर्तव्य-पूर्ति में पीछे रहता हो,—तब गुंजाइश है, कि वह स्त्री की दुर्बलताओं को क्षमा कर सके। अपने अन्दर मुझे कोई भी चीज नजर नहीं आती; जो है भी, उसे मैं सदा निकाल फेंकने के लिये प्रस्तुत रहता हूं। शशि की तरफ से ऐसा नहीं होता।

यह तो निश्चित है, नवीन कल आया। दोनों में यह तै पाया, कि सतीश को छोड़ दिया जाय; या, शशि नवीन के साथ भाग जाय! कैसा प्रस्ताव है! नवीन ने यह क्या सोचा! मैं उसे कितना ऊँचा समझता था! नवीन कॉलेज में दया और सौजन्य का पुतला था, और अपने लिए इन शब्दों का उपयोग सुनकर शर्माता था, जिस नवीन के निश्चित सिद्धान्त थे, जिसके चरित्र की दृढ़ता की सब जगह प्रशंसा थी······

यह उसके पक्ष की बातें थीं। मुझे यह अभीष्ट नहीं था। पहले कोई कैसा है, यह इस बात की दलील नहीं है, कि वह अब भी वैसा

ही है। पतन इसी को कहते हैं। एक भले आदमी की विवाहिता को वरगलाना किसी भी आदर्श का अंग नहीं हो सकता। नवीन अगर ऐसी धारणा रखता है, तो अपने-आपको धोखा देता है। इसे अगर उचित कहा जाय, तो पाप दुनिया में कुछ भी न रहे। नवीन ने बहुत गम्भीर दुष्कर्म का प्रस्ताव किया है। समाज, धर्म, नीति—किसी के दृष्टि कोण से भी उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। नवीन को इसका फल चखना होगा।

शशि ! बेशक, शशि का अपराध है। अगर प्रस्ताव उधर से-ही हुआ, तो उसने क्यों स्वीकार किया ? उसके मन में क्यों ऐसी भावना आई ? मेरे अस्तित्व की जैसे उसे तनिक चिन्ता न थी। और फिर, नवीन के आने की खबर मुझे न दी।—न-सिर्फ न दी बल्कि कोशिश की—मुझे कोई बता न दे।

यहाँ मैंने फिर नवीन की चिट्ठी निकालकर पढ़ी।

मुझे 'सूचित कर देना' होगा ! कैसा भाव-पूर्ण रिमार्क है ! शशि ने मुझसे विवाह किया है—यह सब जानते हैं। कानूनी विवाह फेरे पकड़कर ही होता है न ?—वही तो हुआ है। .कौन नहीं जानता ? सैकड़ों गवाह मिल सकते हैं। सब के बाद दुनियाँ इस बात को जानती है, कि इसके पेट में मेरा ही बच्चा है ! शशि हिन्दू की लड़की है, और हिन्दू की स्त्री। उसे अधिकार है, वह मुझसे अलग रहे। पर, मुझे छोड़कर······छि· ! मैं इस कल्पना से घिनाता हूँ। यह अनहोनी बात है। यह चिट्ठी—नवीन का आदर्शवाद भुलाने के लिये यह चिट्ठी काफी होगी। इस चिट्ठी के आधार पर नवीन जेल नहीं जा सकता ? शर्तिया। किसी वकील से सलाह लेनी होगी।

पर यह सब बाद की बातें हैं। फिलहाल शशि के साथ अपने व्यवहार पर विचार करने की जरूरत है। वह मुझसे क्या आशा करेगी ? अपने मन का भाव छिपाने के लिये वह जरूर बनावटी हँसी हँसेगी। अफसोस है, मैं उसकी हँसी में योग न दे सकूँगा। मुझसे

ऐसी बनावट नहीं हो सकती। मैं मर्द हूँ, मेरे मन में कोई पाप नहीं है, फिर एक दिन सब बात खुलनी है, इसलिये मैं अपने व्यवहार में कृत्रिमता न लाऊंगा।

कृत्रिमता न लाने का अर्थ है, उस पर क्रुद्ध होना। यह मैं चाहता नहीं; शशि मेरी स्त्री है। उसके इस अपराध को क्षमा करने लायक उदारता मुझमें होनी ही चाहिए। उसे मेरे ही पास रहना है। निरन्तर कलह कब तक सहा जायगा? मैं अपनी तरफ से कलह का सूत्रपात अब न करूँगा। नवलराय की इतनी बात तो माननी चाहिए। और फिर, उदारता अपना असर रखती है। शशि सर्वथा हृदय-हीन नहीं है। वह जरूर द्रवित होगी। कोई कारण नहीं है।

नवीन को मैं माफ नहीं कर सकता। उसका अपराध ऐसा-वैसा नहीं है। फिर उस पर दया या रिआयत करने का कोई कारण मेरे मन में मौजूद नहीं है। उसे दण्ड देना होगा। वह मेरा दुश्मन है, उसे दण्ड देना होगा। वह मेरा दुश्मन है। उसे किये का फल दिलाकर मैं सुखी होऊँगा। अगर यह न भी हो, तो दुनियाँ को इबरत हासिल होगी। न, मुझे करना ही होगा। न करूँगा, तो समाज के प्रति अपराधी बनूँगा। ऐसे लोग जब साफ बच जाते हैं, तो मूछें ऊँची करके समाज में अकड़ते हुए घूमते हैं, और अपना विष फैलाते हैं। ऐसे लोगों का सर्वथा नाश हो जाना चाहिए। यह मैं मानता हूँ, कि प्रतिहिंसा के कारण किसी का अहित करना अच्छा नहीं, पर यह कारण भी तो कम आवश्यक और कम महत्वपूर्ण नहीं है। नहीं, नवीन को माफी नहीं मिल सकती। उसने मेरा कैसा भारी अहित करने का विचार किया! ओह!

१६

द्वार पर पहुंचा, और उसे बन्द पाया। मुझे लगा, मेरा सौभाग्य सदा के लिए मिट गया! द्वार में ताला बन्द नहीं था। खोलकर भीतर गया। नीचे कोई न था। ऊपर सन्नाटा था। बैठक में ताला लगा था। ताली जहां रहती थी, वह स्थान मुझे मालूम था।—जाकर ले आया। ताला खोलकर मैं भीतर गया।

कलेजा मेरा धड़क रहा था। शशि कहां गई! मकान खुला छोड़ कर चले जाना मुझे कुछ अनहोनी बात लगी। समझ में पलक-मारते अनेक विचार चक्कर लगा गए। हुआ क्या?—और करना क्या?—दोनों का कोई जवाब मन में उठ न सकता था। मेरी बुद्धि सर्वथा नष्ट हो चुकी थी!

कुछ देर स्तब्ध बैठने के बाद मैं उठा। छान-बीन शुरू करनी-ही थी। मैंने घर का कोना-कोना खोजने का इरादा किया। देखूँ, सूत मिलता है, या नहीं।

पर, कोना छानकर सूत खोजने की नौबत न आई। मन में जो बात चक्कर लगा रही थी, वह सामने आगई। पलंग के पाये के पास मोहर-लगा, खुला हुआ एक लिफाफा दिखाई दिया। मोहर उसी मध्याह्न की थी, और वही पता—उन्हीं परिचित अक्षरों में, कुछ लिखा हुआ था।

खत का कहीं पता नहीं था। मैंने उसे ढूँढ़ने की कोशिश की, पर कामयाब न हुआ। सच यह है, कि वह कोशिश ही न की गई—जिसे कोशिश कहना चाहिये। निश्चय में जो कमी रह गई थी, वह मैं ठीक

घटना-स्थल पर पहुँचकर पूरी किया चाहता था। कहूँ—मुझे भय था; निश्चय यहां होगया, तो आवेश का वेग हल्का हो जायगा, प्रतिहिंसा की मात्रा घट जायगी।

नवीन !

नवीन का साहस !

...यह चिट्ठी ! क्या दूसरी चिट्ठी आई ? जरूर दूसरी चिट्ठी लिखी गई। शशि उसे पढ़कर रह न सकी। चली गई—सदा के लिए मुझे छोड़ गई ? मैंने उसका पाणि ग्रहण किया है, मैं उसका पति हूँ, कानून ने मुझे उसका स्वामी बना दिया है,—वह बिना मुझसे पूछे, बिना कहे, बिना मेरी चिन्ता किये चली गई।

सब तरफ मुझे अंधेरा दीखने लगा। उसने चिट्ठी लिखी। उसी ने मुझे तबाह करना चाहा। उसी के षड्यन्त्र का यह फल है। मेरा हृदय क्षोभ-से भर उठा। नवीन, मेरा सहपाठी, मेरा मित्र, मेरा अंतरंग आज मेरा काल बन गया! मैं उसे क्षमा न करूँगा।

धरिणी उसके साथ रहती है। धरिणी ने उसे सलाह दी है। कैसे दी उसने यह सलाह ? वह मेरी बहन है ! हाँ, बहन—धरिणी ! वह क्या मुझे अपना भाई नहीं मानती ? मैं उसे कितना चाहता था, उसके गायब होने के बाद, उसे पाने के लिये मैंने कितना परिश्रम किया ! ओह ! सब मेरे दुश्मन हो गए ! दुनिया मेरे प्रतिकूल है। मुझे किसी का विश्वास नहीं ! किसी का मैं सम्मान न करूँगा। न किसी की बात मानूँगा। कौन है, मुझे रोकने वाला ? मैं दुनियाँ के लोगों से बदला लूँगा। मेरा मनुष्यत्व मुझे सदा प्रेरणा करता है। नवीन ! धरिणी ! शशि ! तुम तीनों मेरे शिकार हो !

इस घर में शशि मेरे साथ रही है; इसे त्याग दूँगा। इस पलँग पर वह सोई है; इसे जला दूँगा.........और ! इस जगह मैं खड़ा नहीं रह सकता। यहाँ की हवा में जहर मिल गया है।...यह है आदम कद आइना ! उसके लिए मैं इसे खरीदकर लाया था। उसके

लिए ? वह कौन है मेरी ! इस आइने के साथ उसकी स्मृति बंधी रहेगी !

कोई बोझल पदार्थ उठाकर मैंने आइने पर दे पटका । जोर-से आवाज हुई । बीचों बीच का कुछ भाग टूटकर किरच-किरच होगया, बाकी हिस्से में किनारों तक हजारों दरारें पड़ गईं ! एक किरच मेरे माथे पर जमकर बैठी । खून जरूर ही निकलना था ! पर इसका होश कहाँ था ? मैं पुकारता हुआ इधर-उधर घूमने लगा । कमरे की एक-एक चीज में शशि का प्रतिबिम्ब था । मैं चाहता था, कुछ देर को उसे भूल जाना, और दिमाग पर काबू पाना । पर दोनों बातें उल्टी गति से बढ़ रही थी । तब मैंने मन की लहर पर अपने को छोड़ दिया ।

२०

कितनी देर मैं घर पर रहा, और कितनी देर रास्ते में लगी—मुझे कुछ नहीं मालूम । गहरी बेहोशी में कुछ अस्वाभाविक घटनाओं की तरह मुझे रेल की सीटी और बिजली के लैम्पों की याद है ।

मुझे याद पड़ता है, कोई काग़ज मेरे हाथ में था, और मैंने कई आदमियों से कहीं-का पता पूछा था । जब मैं ठिकाने पर पहुंच गया, तो किस तरह—उड़कर, या कैसे ?—अभीष्ट कमरे के दर्वाजे पर पहुंच गया, यह बताने में मैं सर्वथा असम मैं हूँ । मकान बहुत बड़ा था । नौकर-चाकर-दरबान जरूर ही होंगे, पर उनकी नजर-से बचने के लिये क्या कौशल किया, उसकी याद मुझे कोशिश करने पर भी नहीं आती ।

हाँ, तो मैं........कमरे के दर्वाजे पर खड़ा था। एक किवाड़ खुला था। आगे पर्दा पड़ा हुआ था। पर्दा नीले या हरे रंग का था। भीतर रोशनी हो रही थी। न-जाने-कैसे, पर्दा जरा-सा हट गया। शशि थी, और नवीन था। और कोई न था। धरिणी भी न थी। मौत का सन्नाटा था। शशि देखती थी नवीन को, और नवीन शशि को देखता था। दोनों के नेत्र स्थिर थे। मुझे लगा, जैसे नेत्रों की राह दोनों एक-दूसरे को पी जाना जाहते थे। उन नेत्रों की प्यास कभी बुझनेवाली न थी। बस, मैं इसे देखने को तैयार न था।

.......वह डण्डा! वह लोहे का डण्डा, मैं नहीं जानता, कैसे और कहाँ से मेरे हाथ में आगया! मैंने पर्दा हटा दिया........

शशि ने पहले मेरी आहट सुनी थी। उसी ने पहले मुझे देखा। मैंने उसकी आँखों में कुछ पढ़ा, कि मेरी गति बदल गई। हाथ का डण्डा उठ रहा था, पर मैं चाहता था, दूसरा शिकार अकस्मात् मर-जाने की रिआयत न पासके। मैं उसे तड़पते हुए देखना चाहता था। मैं उसे घिघयाते हुए हलाल करना चहता था!! मेरे भीतर उस समय कौन था?

सिर फूटने पर इतने जोर की आवाज होती है—इसकी मैंने कल्पना न की थी। घड़ा फूटते अनेक बार सुना था। इससे ज्यादा तेज आवाज की जरूरत सिर फूटने में मैं नहीं समझता था।.......

लेकिन बड़े जोर की आवाज हुई। डण्डा दोनों हाथों में आ गया था। दांत इतना कसकर ओठों पर रक्खे गये, कि खून जरूर ही निकल आया होगा। उस एक क्षण के लिये मेरी आंखें बन्द हो गईं थीं। आशा से अधिक तेज आवाज से मुझे चौंकना पड़ा। मेरी आखें खुल गईं!

नवीन की आवाज मैंने नहीं सुनी। शायद बोलने का मौका उसे नहीं मिला। मिला भी हो, तो सुन सकने की स्थिति में मैं न था? मैंने देखा—ढेर होगया है। मेज पर वह उलट पड़ा था। छाती तक का

हिस्सा मेज पर था। जिधर चोट लगी थी, सिर का वह अंश ऊपर की तरफ था। रक्त कई लकीरों में बहकर नीचे उतरने की तैयारी कर रह था।

अब कोई चीखा। वह शशि थी। मैंने उसे देखा। वह खड़ी हो गई थी। डण्डा मेरे हाथ में था। उसकी तरफ ताकते रहने की मुझे फुर्सत नहीं थी। मैंने दूसरा हाथ मदद के लिये बढ़ाया।

पातक अधूरा रहना था। कोई पीछे आया। मुझे मुड़कर देखना हुआ। वह धरिणी थी। बिल्कुल विधवा! एक सफेद धोती, बाल बिखरे हुये, शरीर बे-पत्ते के पेड़ की तरह शोभा-हीन!

ओह, धरि कितना बदल गई थी!

आँखें उसकी फट गईं थीं। उसने कहा—"ओ सतीश!···"

डण्डा छूट पड़ा। मेरे धक्के से जरूर वह गिर पड़ी होगी। मैं वहाँ रह नहीं सकता था। उस वायु मण्डल में खड़ा होना मेरे लिए असम्भव था।

फिर वही रोशनी, वही बाजार, वही स्टेशन, वही रेल······!

× × × ×

अब कह ाँहूँ, यह मत पूछिए। माँ ने मरती बार जो बात कही थी अब सुबह से शाम तक उसे दोहराता हूं, और जल्दी माँ के पास पहुंचने की कोशिश में हूं।

शशि की कहानी

उपसंहार

सब अपनी अपनी कह चुके। मेरी दुनियाँ अंधेरी हो गई। मैं अब क्या कहूँ ?

मैं निर्बल हूँ। मेरा दिल टूट चुका है। पिछली बातें उखाड़कर कहने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, न मुझे किसी की शिकायत करनी है। जो बातें जानने को निष्ठुर पाठक उत्सुक होंगे, उन पर प्रकाश डालना मेरा कर्तव्य है।

ब्याह के पहले सतीश की चिट्ठी मुझे मिली थी। मैं उसका जवाब न दे सकी। सतीश के मन का पाप उसमें ज्वलन्त था। नवीन मुझे छोड़कर चल दिया था। उसने मेरे गर्व का तिरस्कार किया था। पुरुष-वर्ग मेरी नजरों में सांप से ज्यादे भयानक था। नवीन और सतीश में एक सा विष उस समय मुझे दिखाई देता था। पाठक विश्वास करें—मेरे इसी क्षोभ ने मेरा सर्वनाश कर दिया।

उस दिन शाम को एक पत्र मुझे मिला—पते पर नवीन के अक्षर थे, पर पत्र धरिणी ने लिखा था। वह यह था—

शशि,

तुमसे मेरा जो रिश्ता है, उसी की याद करके पत्र लिख रही हूँ। तुम उसे उसी भाव से लोगी—यह मेरा अनुरोध है।

नवीन ने आकर सब बात बताई थी। यह सच है, तुम सुखी रह ही नहीं सकतीं। नवीन को भी सारी उम्र जलना पड़ेगा। उसकी चिट्ठी तुम्हें मिली होगी। मैंने उसे जो सलाह दी है, वह उसने लिख

दी है। तुम उ स पर विचार करोगी।

सतीश को मैं जानती हूँ। मैं उसे मना सकती हूँ। इस विषय में तुम चिन्ता न करो। तुम्हें रखने का उसे अधिकार ही नहीं है। अगर नवीन की बात सच है, तो सतीश तुमसे छूट कर सुखी ही होगा। जीवन से अस्वाभाविकता दूर होने पर मनुष्य सुखी होता ही है।

मेरा ख़याल है, तुम शीघ्र चली आने की व्यवस्था करोगी।

—धरिणी

नवीन की कोई चिट्ठी मुझे नहीं मिली थी। इसलिये इस पत्र ने मुझे चक्कर में डाल दिया। सतीश सुबह से गायब था। मन मेरा व्याकुल था। पहले दिन नवीन आये थे, और हृदय की सोती आग जगा गये थे। दुर्भाग्य मेरे सिर पर नाच रहा था। मैं आवेग में भर कर, नवीन के पास चली गई।

सब कुछ भीतर ही दुबका रह गया। धरिणी हमको छोड़कर चली ग ई थी। अभी हम नेत्रों की प्यास बुझा ही रहे थे। वह पुरानी स्मृति पिघलती-सी जाती थी। हम दोनों स्वर्ग-राज्य में विचरण कर रहे थे!······

उसी समय सब अन्धकार में विलीन हो गया!······अब सब तरफ़ सूना है। कहीं प्रकाश की रेखा नहीं! धरिणी का हृदय कठिन है। पर वह ढारस देने की कोशिश करती है; तो तुरत ही खुद भी रो पड़ती है!!

नवीन, सतीश, धरिणी, मैं—सभी फेल हो गये!

समाप्त

240 adding the marks of failing subject

Engg - 65
Sci 2 - 71
Eco 2 - 65
2. Maths 2 - 58 . Comp
Opt 2 - 12.

20